सुन्दरकाण्डमें आये हुए प्रकरणोंकी सूची

कुछ संकेताक्षरोंका विवरण

अ.—अयोध्याकाण्ड
(संस्कृत-ग्रन्थोंका) अध्याय
अ. दी.—अभिप्रायदीपक
अ. दी. च.—अभिप्रायदीपकपर श्रीजानकीशरणजीकृत टीका, अभिप्रायदीपक चक्षु
अ. रा.—अध्यात्मरामायण
अ.—अरण्यकाण्ड
आ. रा.—आनन्दरामायण
उ.—उत्तरकाण्ड, उपनिषद्
क.—कवितावली
करु.—करुणासिंधुजी—श्री १०८ बाबा रामचरणदासकृत आनन्दलहरी टीका
का.—काशिराजकी प्रतिलिपि
कि.—किष्किन्धाकाण्ड
को. रा.—कोदवरामजीका गुटका
खर्रा—पं. रामकुमारजीके प्रथम अवस्थाकी हस्तलिखित टिप्पणी
गी.—गीतावली
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
गी. प्रे., गीता प्रे.—गीताप्रेस गोरखपुर
गौड़जी—प्रोफेसर श्रीरामदास गौड़जी एम्० एस्-सी० काशी
चौ.—चौपाई, अर्धाली
छ.—मुं० छक्कनलालजी रामायणी
टि.—टिप्पणी
तै. उ.—तैत्तिरीय-उपनिषद्
दीनजी—श्रीलाला भगवानदीनजी हिंदी लेक्चरार काशी-विश्वविद्यालय
दो.—दोहावली, दोहा
नं. प. श्रीनंगे परमहंस बाबा अवधविहारीदासजी, प्रयाग
न. प्र., ना. प्र.—नागरीप्रचारिणी सभाका रामचरितमानसका प्रथम संस्करण,
पं.—श्रीसन्तसिंहजी पंजाबी ज्ञानी अमृतसरकृत 'मानस-भाव-प्रकाश' टीका, जो एक बार १९०१ में छपी थी। संवत् १८७५ से १८८८ तक १३ वर्षमें लिखी गयी।
प. प. प्र.—स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्द सरस्वती उरुण इसलामपुर, दक्षिण सतारा।
पं. रा. कु.—पं० रामकुमारजीके खर्रे
पं. रा. गु. द्वि.—पं. रामगुलाम द्विवेदीजी मिरजापुरीकी प्रतिलिपि, जो वंदन पाठकजीने उतारी थी
प. पु.—पद्मपुराण
पाँ., पाँड़ेजी—मुं० रोशनलालकृत प्रयागनिवासी श्रीरामबख्श पाँड़े रामायणीके कथाके भाव
पु.—पुराण
प्र.—रामायण परिचर्या परिशिष्ट प्रकाश श्रीबाबा हरिहरप्रसादजीकृत (रामनगर, काशी)
प्र. रा.—प्रसन्नराघव नाटक
प्र. सं.—मानस-पीयूषका प्रथम संस्करण।
प्र. स्वामी—स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी
बं. पा.—मानसीबंदन पाठकजी रामायणी
बा.—बालकाण्ड
बा मं. सो.—बालकाण्ड मङ्गलाचरण सोरठा
वीर, वीरकवि—पं० महावीरप्रसाद मालवीयकी टीका
ब्रा. चं.—कविवर ब्रजचन्द्रजी
भा.—श्रीमद्भागवतपुराण
भा. दा.—श्रीभागवतदासजीकी प्रतिलिपि
मं.—मङ्गलाचरण
मं. श्लोक—मङ्गलाचरणका श्लोक
मनु.—मनुस्मृति
मा. त. भा.—मानसतत्त्वभास्कर (पं. रामकुमारजीकी टीकाका नाम)
मा. त. सु.—मा. त. भा. सुन्दरकाण्डपर मानसतत्त्व-सुधार्णवीया व्याख्या, संवत् १९७५ की छपी
मा. म.—पं० शिवलाल पाठकरचित मानसमयंककी टीका श्रीइन्द्रदेवनारायणसिंहकृत
मा. शं.—श्रीमन्मानसशंकावली (महादेवदत्तकृत)
मा. शं. म.—मुं० जंगबहादुरसिंह (बाबा जयरामदासजी) कृत मानसशङ्का-मोचन
मा. शं. स.—गणपति उपाध्यायकृत मानसशंका-समाधान
मा. सं.—मानस-पीयूषका सम्पादक

मा. हं.—श्रीमन्त यादवशङ्कर जामदारकृत 'मानस-हंस'
यु. कां.—युद्धकाण्ड
र. ब.—श्रीरणबहादुरसिंहकी टीका
रा.—रामायण
रा. कु०—पं० रामकुमारजी
रा. गु. द्वि.—पं० रामगुलाम द्विवेदीजी
रा. प.—श्रीदेवतीर्थ स्वामी काष्ठजिह्वाजीकृत रामायणपरिचर्या
रा. प. प.—रा. प. का परिशिष्ट राजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंहजी काशीनरेशकृत
रा. प्र.—रा. प. प. पर प्रकाश बाबा हरिहरप्रसादजी-कृत। संवत् १९५५ में छपा।
रा. बा. दा.—श्रीअयोध्याजी बड़ी छावनीके प्रसिद्ध रामायणी रामबालकदासजी।
रा. व. श.—श्रीजानकीघाटके प्रसिद्ध महात्मा पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज
रा. शं., रा. शं. श.—श्रीबाबा रामशंकरशरणजी व्यास, हनुमतनिवास।
लं.—लंकाकाण्ड
लं. मं.—लंकाकाण्ड मङ्गलाचरण
वा., वा. रा.—वाल्मीकीय रामायण
वाल्मी.—वाल्मीकीय रामायण
वि., विनय—विनयपत्रिका
वि. त्रि.—मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी, काशीके अप्रकाशित टिप्पण।
वे० भू०—वेदान्तभूषण साहित्यरत्न प० श्रीरामकुमार-दासजी रामायणी, श्रीअयोध्याजी
बृह.—बृहदारण्यक-उपनिषद्
बै.—श्रीबैजनाथजीकृत मानसभूषण टीका सन् १८९० ई० की छपी (प्रथम संस्करण)
वै. सं.—वैराग्यसंदीपिनी
श. सुं. दा.—बाबू श्यामसुन्दरदासजी ना० प्र० सभाकी टीका
श. सा.—ना. प्र. सभाका हिंदी-शब्दसागर कोष प्रथम संस्करण।
शीला, शिला—क्षत्रियकुल गौर अमेठिया वंशके सम्भवतः सत्यनामी संत बाबा हरिदासजीकी टीका 'शीलावृत्ति' के भाव। (सं० १९७४ में साकेतवास हुआ। पुस्तकके अन्तमें उनके मसलविवेकके कई सौ कवित्त हैं।)
श्री. मि.—पं० श्रीधर मिश्रके भाव मा० शं० से
स.—सर्ग सुं.—सुन्दरकाण्ड
हनु. हनु. ना.—हनुमन्नाटक ब्रजरत्न भट्टाचार्यकृत टीकासहित, पञ्चमावृत्ति सं० १९८१

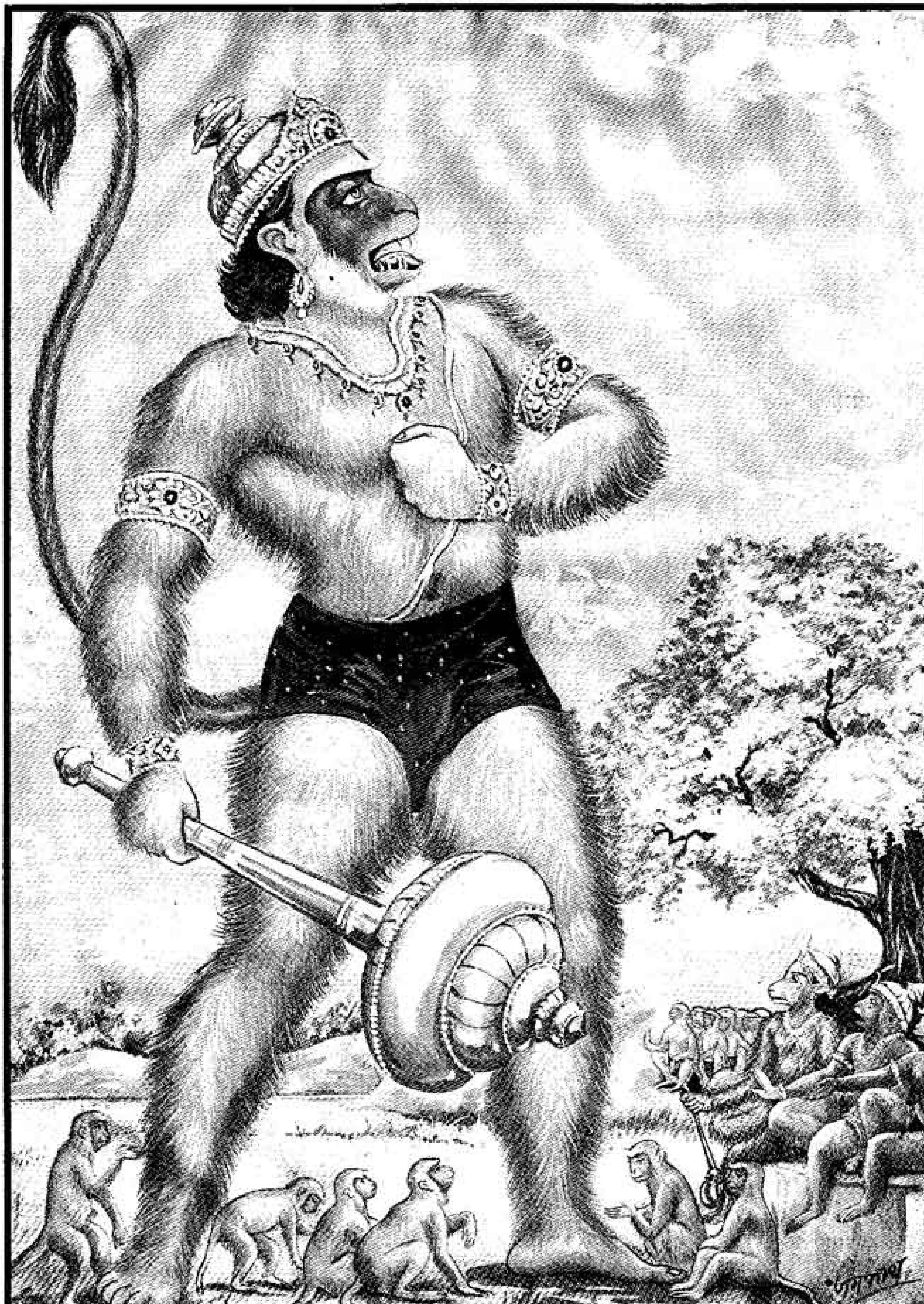
श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

स्मरणीय कुछ विषयों और शब्दोंकी अनुक्रमणिका

लङ्कादहन



अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास ।।



भूधराकार हनुमान्

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै।

श्रीसद्गुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते।

ॐ साम्बशिवाय नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः।

सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्यसाकेतवासिश्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीसीतारामाभ्यां नमः, श्रीभरताय नमः, श्रीलक्ष्मणाय नमः, श्रीशत्रुघ्नाय नमः।

अथ श्री

मानस-पीयूष

(व्याख्या-समन्वित)

श्रीरामचरितमानस पञ्चम सोपान

(सुन्दरकाण्ड)

मंगलमूरति मारुतनंदन। सकल अमंगल मूल निकंदन॥
पवनतनय संतन हितकारी। हृदय बिराजत अवधबिहारी॥

श्लोक

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाण*शान्तिप्रदं ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम्॥ १॥

अन्वय—अहं शान्तम्, शाश्वतम्, अप्रमेयम्, अनघम्, गीर्वाणशान्तिप्रदम्, अनिशम्, ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यम्, वेदान्तवेद्यम्, विभुम्, जगदीश्वरम्, सुरगुरुम्, मायामनुष्यम्, हरिम्, करुणाकरम्, भूपालचूडामणिम्, रामाख्यम्, रघुवरम्, वन्दे॥ १॥

अर्थ—शान्त, सनातन, प्रमाणरहित, निष्पाप, देवताओंको शान्ति देनेवाले, ब्रह्मा, शम्भु और शेषजीसे निरन्तर सेवित, वेदान्तसे जाननेयोग्य, व्यापक एवं समर्थ, जगत्‌के ईश्वर (स्वामी), देवताओंके गुरु, माया अर्थात् अपनी इच्छासे मनुष्यरूप धारण किये हुए, हरि, करुणाकी खानि, राजाओंमें शिरोमणि, रघुकुलमें श्रेष्ठ, जिनका राम ऐसा नाम है, उनको मैं वन्दना करता हूँ॥ १॥

---

* निर्वाण—(ना० प्र०, का०, गी० प्रे०)। निर्वाण पाठसे अर्थ होगा 'मोक्ष और शान्ति वा मोक्षरूपी शान्ति देनेवाले'। यथा—'निर्वानदायक क्रोध जाकर'। गीर्वाण—भा० दा०। प० प० प्र० 'निर्वाण' को उत्तम मानते हैं। वे कहते हैं कि देवताओंको तो शान्ति कभी नहीं मिल सकती, क्योंकि वे स्वार्थी होते हैं। शान्ति प्राप्त होनेपर अवस्था एकरस रहती है।

टिप्पणी—१ '**शान्तम्**' इति। (क) श्रीरामजी कैसे शान्त हैं, यह ***'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयेउ न हरष हरासू॥'*** (२। १४९। ७) तथा '**प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य**'''''।' (मं० श्लोक २) से स्पष्ट है। शान्तसे इन्द्रियोंपर अधिकार, अक्रोधी तथा उनके दर्शनोंसे दूसरोंको शान्तिकी प्राप्ति होना इत्यादि जनाया। वाल्मी० २। १ में '**स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते। उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥**' (१०) यह जो कहा है वह 'शान्त' की ही व्याख्या है। नारद तथा भृगुजी और परशुरामजीके प्रसंगोंमें शान्ति देख लीजिये। (ख) इस विशेषणसे ईश्वरता (ऐश्वर्य) सूचित की। शान्त-रसकी उपमा ईश्वरकी दी जाती है। यथा—***'बैठे सोह कामरिपु कैसें। धरें सरीरु सांतरसु जैसें॥*** ' (१। १०७। १)

(ख) शाश्वत=निरन्तर, सनातन, यथा—***'जो तिहुँ काल एकरस अहई।'*** (१। ३४१। ८) अप्रमेय=प्रमाणोंसे परे; अपरिमित; अनन्त। यथा—***'आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥'''सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान।'*** (१। ११८) **अनघम्**=निष्पाप। यथा—***'अनघ अनेक एक करुनामय।*** (७। ३४। २)', ***'करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।'*** (१। १३७। ४) अर्थात् आप पाप-पुण्यसे परे हैं। '**गीर्वाणशान्तिप्रदम्**' अर्थात् देवताओंको शान्ति देते हैं। यथा—***'असुर मारि थापहिं सुरन्ह ''''''।'*** (१। १२१), ***'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥'*** (६। १०९। ८), ***'यह दुष्ट मारेउ नाथ भए देव सकल सनाथ।'***

इसपर यह शंका होती है कि—'बिना राक्षसोंको मारे देवताओंको शान्ति नहीं मिलती और राक्षसोंके मारनेमें पाप होता है। तब ***'अनघ'*** कैसे कहा?' समाधान यह है कि राक्षसोंके मारनेमें पाप नहीं होता। वे अपने पापसे आप ही नाशको प्राप्त होते हैं। यथा—***'बिस्व द्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारगगामी॥'*** (६। १०९। ४) इन्द्रने भी ऐसा ही कहा है—***'परद्रोहरत अति दुष्ट, पायो सो फल पापिष्ट।'*** (६। ११२) [☞ बालकाण्ड दोहा १७ में 'सिद्धावस्था और व्यवहार' इस लेखमें विस्तृतरूपसे इस विषयपर प्रकाश डाला गया है। पाठक वहीं देखें।]

(ग) '**ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशम्**' इति। ब्रह्मा, शम्भु और शेष—ये तीनों निरन्तर श्रीरामजीकी सेवा करते हैं, यथा—***'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥'*** (१। १२) पुनः, ब्रह्मा, शम्भु और शेषको कहकर तीनों लोकोंसे सेवित जनाया। ब्रह्मासे ब्रह्मलोक, शम्भुसे मृत्युलोक (मर्त्यलोक) और शेषसे पाताललोक। पुनः, रामजीके दो स्वरूप हैं—एक ऐश्वर्य और दूसरा माधुर्य। ऐश्वर्यरूपमें ब्रह्मादिकोंको सेवक कहा, अब माधुर्यरूपमें उनकी सेवा कहते हैं। अर्थात् श्रीरामजीके ऐश्वर्यरूपकी सेवा तो श्रीब्रह्माजी, श्रीशंकरजी और श्रीशेषजी निरन्तर अपने इसी रूपसे किया करते ही हैं पर इतनेहीमें संतोष नहीं कर लेते। जब श्रीरामजी मनुष्यरूपसे अवतार ग्रहण करते हैं तब भी ये तीनों उनके इस माधुर्यरूपकी भी सेवा करनेके लिये स्वयं भी अवतरित होते हैं। श्रीब्रह्माजी जाम्बवान्‌रूप और शंकरजी हनुमान्‌रूपसे आकर सेवा करते हैं। प्रमाण, यथा—***'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान॥'*** (दोहावली १४३) शेषजी लक्ष्मणरूपसे अवतरित होते हैं, यथा—***'जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु।'*** (२। १२६) ये तीनों मनसा, वाचा, कर्मणासे श्रीरघुनाथजीकी निरन्तर सेवा करते हैं। यथा—***'हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥'*** (४। २६) (ये ब्रह्माके अवतार जाम्बवान्‌जीके वचन हैं)। यह वचनकी सेवा है। पुनः यथा—***'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल बहई॥'*** (उ० ५०) (यह महाशम्भुके अवतार श्रीहनुमान्‌जीकी इस पृथ्वीपर श्रीरघुनाथजीकी लीलासमाप्तिके समयकी सेवा है। किष्किन्धासे लेकर अन्ततक बराबर इनकी सेवा है)। यह कर्मकी सेवाका एक उदाहरण है। पुनः यथा—***'चापत चरन लखन उर लाये। सभय सप्रेम परम सचु पाये॥'*** (१। २२६) (यह श्रीलक्ष्मणजीकी सेवा है। जन्मसे अन्ततक बराबर इनकी सेवा है। यथा—***'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'*** (१। १९८); यह मनकी सेवा है [इससे यह

जनाया कि जिनको उद्भव, पालन और संहारकी शक्ति है, जो ऐसे महान् समर्थ हैं वे भी श्रीरामजीकी निरन्तर सेवा करते हैं जिसमें मायासे बचे रहें, तब इनसे बढ़कर सेव्य कौन होगा? हम सबका कर्तव्य है कि उनका भजन करें, नहीं तो अपार भवसागरमें पड़ना होगा। यथा—'*भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकजु प्रेम न जे करते॥ अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्हके पद पंकज प्रीति नहीं॥*' (७। १४) (प० प० प्र०)] (घ) **वेदान्तवेद्यम्**=वेदान्तसे जाननेयोग्य। यथा—'*ज्ञानगम्य जय रघुराई।*' (१। २११) विभु=समर्थ। यथा—'*प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।*' (३। १७) *रामाख्यम्*, यथा—'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।' (बा० मं० श्लो० ६ देखिये)। जगदीश्वर हैं, यथा—'*ते नररूप चराचर ईसा।*' (३। २५), '*राम रजाइ सीस सबही के।*' (२। २५४) [वेदान्तसे जानने योग्य तो हैं, पर 'विभु' होनेसे इस साधनसे ज्ञान होना परम दुर्लभ है, क्योंकि '*सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।*...... *तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत*.......'। (२। १२७) विभुका भजन असम्भव है, अतः '**रामाख्य**' कहा। अर्थात् वे विभु होनेपर भी, अनाम-अरूप होनेपर भी, भक्तोंपर कृपा करनेके लिये नामरूपधारक बन गये। तथापि वे जगदीश्वर ही हैं, अखिल विश्वपर उनकी ही सत्ता चलती है। (प० प० प्र०)] सुरगुरु हैं, यथा—'**जगद्गुरुं च शाश्वतम्**।' (३। ४) गुरु कहनेका भाव यह है कि गुरु सर्वोपरि है। यथा—'*तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।*' (१। १११) पुनः यथा—'*जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता।*' (१। १८६) (ङ) '**मायामनुष्यं हरिम्**'=माया (निज इच्छा) से मनुष्यरूप धारण किये हुए हरि हैं। यथा—'*कृपासिंधु मानुष तनुधारी।*' [मायाका एक अर्थ 'इच्छा' है। इस अर्थका समर्थन मानससे ही हो जाता है। यथा—'*मम इच्छा कह दीनदयाला।*' (१। १३८), '*इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥*' (१। १५२), '*निज इच्छा प्रभु अवतरइ।*' (कि० २६) दूसरा अर्थ '**मायामनुष्यं हरिम्**' का है कि, 'मायाके कारण मनुष्य-सरीखे देख पड़ते हैं, पर हैं '*हरि*' अर्थात् भक्तोंके दुःखको हरनेवाले' मनुष्यरूप होना यह है कि बाल, कुमार, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ धारण कर लेते हैं और मनुष्योंकी तरह विरह-विलाप आदि चरित भी करते हैं। तीसरा अर्थ '*कृपा*' है, यथा—'*कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।*' (१। १२२), '*भये प्रगट कृपाला*' इत्यादि। चौथा अर्थ है ज्ञान—'**माया वयुनं ज्ञानम्**'। गीता ४। ६ के '**सम्भवाम्यात्ममायया**' में के '*माया*' शब्दका यही अर्थ है। अर्थात् मैं अपने ज्ञानसे—अपने संकल्पसे प्रकट होता हूँ। भाव यह कि आप अन्य साधारण मनुष्योंकी भाँति जन्म नहीं लेते। आप अपने स्वभावमें स्थित सम्पूर्ण ईश्वरीय स्वभावका त्याग न करते हुए अपने ही रूपको अपने संकल्पसे मनुष्यादिके सदृश आकारमें करके उन मनुष्यादिके रूपोंमें प्रकट होते हैं। (श्रीरामानुजभाष्य) मिलान कीजिये, '**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ**' (कि० मं० श्लो० १)] (च) करुणाकर=करुणाके आकर (खानि) तथा करुणाके करनेवाले। यथा—'*करुनाकर राम नमामि मुदा।*' (६। ११०) रघुवर=रघुकुलश्रेष्ठ। यथा—'*रघुकुल मनि दसरथके जाये*', '*रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायेउ माथ।*' (१। ११६) भूपालचूडामणि=राजाओंमें शिरोमणि, यथा—'*भूपमौलिमनि मंडन धरनी।*' (७। ३५), '*भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥*' (७। २२) हरि शब्दसे अनेक '*हरि*' का बोध होता है। यथा—'हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः।' इस भ्रमके निवारणार्थ '*रघुबर*' विशेषण दिया। पर '**रघुवर**' चारों भाई हैं। अतः '**भूपालचूडामणिम्**' और '**रामाख्यं**' दोनों कहकर रघुकुलमें अवतीर्ण श्रीरामजीका ही बोध कराया। यथा—'*जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥*' ['*हरि*' शब्दसे जनाया कि जीवोंके समस्त क्लेशोंके, समस्त पापोंके तथा समस्त जीवोंके मनको हरनेवाले हैं। '**क्लेशं हरतीति हरिः**'। यथा—'हरिर्हरति **पापानि**', '**कथ्यते स हरिर्नित्यं भक्तानां क्लेशनाशनः।**' (महारामायण ५२। ९२)। विशेष बा० मं० श्लोक० ६ और १८ (१) '*रामनाम रघुबरको*' देखिये।]

टिप्पणी—२ शान्तकी पुष्टता एकरस होना है। जो सदा एकरस है वही शान्त है। एकरसकी पुष्टताके लिये शाश्वत कहा और इसकी पुष्टताके लिये अप्रमेय कहा। जो सदा है वह अवश्य प्रमाणरहित होगा। जो अप्रमेय है वह अनघ अवश्य होगा और इसीसे वह देवताओंको शान्ति दे सकेगा तथा ब्रह्मादिसे निरन्तर सेव्यमान होगा।

इनसे सेवित होनेके कारण वेदान्तद्वारा कथित है। अतएव समर्थ है। इसीसे उसका 'राम' ऐसा नाम है और वह जगदीश्वर है। जगदीश्वर होनेसे देवताओंका गुरु है और इसीसे मायामनुष्यरूप धारण करके उनके क्लेशोंको हरता रहता है। पुनः वे हरि हैं, इसीसे मैं वन्दना करता हूँ। वे करुणाकर हैं, इसीसे रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं और रघुकुलमें श्रेष्ठ होनेसे भूपालचूड़ामणि हैं। [अन्तमें '**भूपालचूडामणिम्**' पद देकर श्रीरामचन्द्रजीमें अपने अभीष्टकी (जो अगले श्लोकमें कहते हैं—'**भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे। कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥**') पूर्ति करनेकी योग्यता सूचित करके तब आगे याचना करते हैं। जैसे—'**नृपनायक दे वरदानमिदं**' में '*नृपनायक*' कहकर तब ब्रह्माजीने वर माँगा—'**चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं।**' (लं० ११०)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—जो निष्क्रिय होनेसे शान्त, प्रागभाव-प्रध्वंसाभावके प्रतियोगी होनेसे शाश्वत, स्वयंसिद्ध होनेसे अप्रमेय, पाप-पुण्यसे परे होनेसे अनघ, दैवीसम्पत्तिवाले अथवा देवताओंकी अशान्ति दूर करनेवाले होनेसे '*गीर्वाणशान्तिप्रद*', ब्रह्मा-शम्भु-फणीन्द्रको भी स्व-स्व-कार्य-सम्पादन-शक्तिप्रद होनेसे उनके पूज्य, औपनिषद पुरुष होनेसे वेदान्तवेद्य, जगत्के अभिन्न निमित्तोपादान कारण होनेसे विभु, सबके स्वामी होनेसे जगदीश्वर, वेदादि शास्त्रके आदि उपदेष्टा होनेसे सुरगुरु, इच्छामय नरवेष धारण करनेसे माया-मनुष्य, दु:खोंके दूर करनेवाले होनेसे हरि, करुणा करके लीला-विग्रह धारण करनेसे करुणाकर, रघुकुलमें अवतीर्ण होनेसे रघुवर, राजाओंके आदर्श होनेसे भूपालचूडामणि हैं, वही आनन्दसिन्धु सुखराशि राम हैं।

☞ इस श्लोकके पहिले दो पदोंमें निर्गुणरूप और पिछले दो पदोंसे सगुणरूपका वर्णन किया, इस भाँति सगुण-निर्गुणरूप कहा और चूड़ामणि शब्द देकर चूड़ामणि-प्राप्तिकी कथाका होना ध्वनित किया।

प० प० प्र०—इस श्लोकका सम्बन्ध बा० मं० श्लोक० ६ '**यन्मायावश**·····' से है। जो वहाँ **यत्सत्त्वात्, अशेषकारणपरम्, भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां प्लवम्, ब्रह्मादिदेवाः** है वही यहाँ क्रमशः **शाश्वतम्, अप्रमेयम्, निर्वाणशान्तिप्रदम्, ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यं** है। वहाँ ईश और माया (वशवर्ति) है तो यहाँ **जगदीश्वरम्, माया-मनुष्यम्** है। **हरिं रामाख्यं** और **वंदे अहम्** दोनोंमें हैं।

इसी तरह लंकाकाण्डके श्लोक १ से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है—वहाँके '**योगीन्द्रम् १, अजितम् २, निर्विकारम् ३, भवभयहरणम् ४, कामारिसेव्यम् ५, ज्ञानगम्यम् ६, निर्गुणम् ७, रामम् ८, ईशम् ९, सुरेशम् १०, माया (तीतम्) ११, ब्रह्मवृन्दैकदेवम् १२, कन्दावदातम् १३, खलवधनिरतं रामम् १४, उर्वीशरूपम् १५ और वन्दे १६** की जगह यहाँ **शान्तम् १, शाश्वतम् २, अनघम् ३, निर्वाणशान्तिप्रदम् ४, ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यम् ५, वेदान्तवेद्यम् ६, विभुम् ७, रामाख्यम् ८, जगदीश्वरम् ९, सुरगुरुम् १०, मायामनुष्यम् ११, हरिम् १२, करुणाकरम् १३ रघुवरम् १४, भूपालचूडामणिम् १५ और वन्दे १६** है।—(इस मिलानसे विशेषणोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं)।

प० प० प्र०—बालकाण्डका मं० श्लोक ५ '**उद्भवस्थितिसंहारकारिणीम्**·····' इस पञ्चम सोपानका प्रतिनिधि है, इस काण्डका विषय ध्वनित करता है। इस तरह कि '**सर्वश्रेयस्करीम्**' का अर्थ ही '**निर्वाणशान्तिप्रदम्**' है। निर्वाण=मोक्ष। शान्ति=सुख। सर्वश्रेयमें मोक्ष और भक्ति दोनोंका अन्तर्भाव है। सुख बिना हरिभक्तिके नहीं मिल सकता। भक्ति ही सुख और शान्ति है। बिना 'क्लेशहरण' के सुख नहीं। उत्तरकाण्डमें कहा है कि '*दारुन अविद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे*'। पर वस्तुतः यह कार्य ब्रह्मविद्यारूपी माया सीतासे ही हो सकता है।

नोट—१ यह श्लोक शार्दूलविक्रीडित वृत्तका है। इस वृत्तके चारों चरण उन्नीस-उन्नीस अक्षरके होते हैं। प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और अन्तमें एक गुरु वर्ण रहता है। मानसमें केवल दस वृत्त इसके आये हैं। विशेष बा० मं० श्लोक ६ देखिये।

नोट—२ '**सुन्दरकाण्ड**' इति। इस काण्डका नाम 'सुन्दर' क्यों रखा गया? इस प्रश्नको उठाकर महानुभावोंने इसके उत्तर अपने-अपने मतिके अनुसार दिये हैं जिनमेंसे कुछ नीचे दिये जाते हैं।

(क) पं० श्रीरामकुमारजीका मत है कि 'त्रिकूटाचलके तीन शिखर हैं। एक 'नील' जिसपर लंका बसी है। दूसरा 'सुबेल' जो मैदान है। तीसरा शिखर 'सुन्दर' है जिसपर अशोकवाटिका है। इस 'सुन्दर'

नामक शिखरपर ही यह (सुन्दरकाण्डका) चरित्र हुआ है। इसीसे इसका नाम 'सुन्दरकाण्ड' हुआ। किसी-किसी काण्डका नाम स्थानके सम्बन्धसे है, जैसे कि अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंका और किसी-किसीका नाम चरित्रके सम्बन्धसे है, जैसे बाल, अयोध्या और उत्तर।'

(ख) मानसतत्त्वसुधार्णवीव्याख्यामें 'सुन्दर' नामके भाव ये दिये हैं—(१) 'आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीने रामचरितकी रचना करनेमें सबसे विलक्षण काव्यशैली अर्थात् जोड़, यमक, छन्द आदि वक्तव्य भावोंको इसमें सुन्दर रूपसे दरसाया है। अतः 'सुन्दर' नाम रखा। उसी प्राचीन शैलीको सभी आचार्योंने ग्रहण किया है।' (२) 'इसमें वर्णनीय सब कुछ 'सुन्दर' है। यथा,—'**सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे सुन्दरः कपिः। सुन्दरे सुन्दरी वार्ता अतः सुन्दर उच्यते॥**'

(ग) श्रीरामदयाल मजूमदारजी लिखते हैं कि 'बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड इन नामकरणोंका कारण समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु सुन्दरकाण्ड नामकरणमें मानो कुछ विशेषता है।' अध्यात्मरामायणके अन्तिम श्लोकके प्रथम चरणमें '**रामायणं जनमनोहरमादिकाव्यम्**' अर्थात् रामायणको 'जनमनोहर' (लोगोंके मनोंको हरनेवाली, बहुत ही प्रिय), 'आदिकाव्य' कहा गया है। समस्त रामायण ही 'मनोहर' है। उसके अंदर 'सुन्दरकाण्ड' अत्यन्त मनोहर है। जिस प्रकार महाभारतका विराट्पर्व सर्वश्रेष्ठ अंश है, उसी प्रकार रामायणमें सुन्दरकाण्ड सर्वश्रेष्ठ अंश है। इसके श्रेष्ठ होनेका कारण बतलाते हुए कहा गया है, '**सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा। सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्॥**' अर्थात् सुन्दरकाण्डमें राम सुन्दर हैं, कथाएँ सुन्दर हैं, सीता सुन्दर हैं। सुन्दरमें क्या सुन्दर नहीं है?

इसपर प्रश्न होता है कि 'सुन्दरमें रामकी कथा तो है नहीं, तब '**सुन्दरे सुन्दरो रामः**' क्यों कहा गया?' इसका उत्तर यह है कि, सुन्दरकाण्डमें प्रधान चरित्र दो हैं—श्रीसीता और श्रीहनुमान्। श्रीहनुमान्‌जी तो भक्त हैं। 'श्रीसीताजी क्या हैं?' यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीराम और श्रीसीता अभिन्न हैं। '***गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।***' श्रीसीताजी शक्ति हैं और श्रीराम शक्तिमान्। एक होनेपर भी शक्ति शक्तिमान्‌की भक्त हैं, सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। क्योंकि श्रीसीताजीका हृदय एक क्षणके लिये भी श्रीरामको नहीं छोड़ सकता (रावणवधके पश्चात् श्रीसीताजीने अपनेको निष्कलंक साबित करनेके लिये अग्निके समीप जाकर यह वचन कहे थे कि 'यदि मेरा हृदय रघुकुलनन्दन श्रीरामके चरणोंसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं होता तो अखिल विश्वके साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें। इत्यादि)। रामके सौन्दर्यको लेकर ही सीता त्रैलोक्यसुन्दरी हैं। फलतः राम ही सीता बनकर सुन्दर हो रहे हैं। श्रीरामतापनीयोपनिषद्‌में कहा है, '**यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या जानकी भूर्भुवः स्वस्तस्यै वै नमो नमः।**' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान् हैं और देवी श्रीजानकीजी भूर्भुवः स्वःरूप व्याहृति हैं। इसलिये उन्हें नमस्कार है, नमस्कार है।

राम ही जानकी हैं, इसीसे रामके सौन्दर्यमें ही राममानस-सरोमरालिकाका सौन्दर्य है। सुन्दरकाण्डमें जिस कुन्तलाकुलकपोलसुन्दरी सीताके रूप और गुणका विकास है, वह क्या जाग्रत् और क्या स्वप्न, सर्वदा श्रीरामके चरणकमलमें सब कुछ समर्पण किये हुए हैं। इसीलिये कहा गया है '**सुन्दरे सुन्दरो रामः।**'

हनुमान्‌जीने रावणको अति तुच्छ मानकर कहा था, '**न मे समा रावणकोटयोऽधमाः रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः।**' अर्थात् रावण-जैसे करोड़ों अधम मेरी समता नहीं कर सकते। मैं श्रीरामका दास हूँ। अतः मेरे पराक्रमका कोई पार नहीं पा सकता। श्रीरामजीका दास होनेके कारण मुझमें अपार विक्रम है। दास होनेसे जहाँ इतना शौर्य-वीर्य प्रस्फुटित हो उठता है, वहाँ भक्तका सौन्दर्य भगवान्‌का ही सौन्दर्य है। इसीसे '**सुन्दरे सुन्दरो रामः**' कहा गया।

इसका अर्थ तो समझमें आया। परन्तु 'सुन्दरमें सभी सुन्दर है' इसका क्या अभिप्राय है? उत्तरमें कहना होगा कि, 'क्या सुन्दरमें सब सुन्दर नहीं है?' 'शतयोजनविस्तीर्ण, भीमदर्शन, महोन्नततरङ्गसमाकुल, अगाध गगनाकार सागरको लाँघना' से लेकर श्रीराम और श्रीसुग्रीवको श्रीसीताजीका संवाद सुनाना, रामके

द्वारा हनुमान्‌का आलिङ्गन—ये सुन्दरकाण्डकी सभी कथाएँ सुन्दर हैं।' (कल्याण 'शक्ति-अंक' से)

पं० वि० त्रिपाठीजी—'(१) मनभावन, (२) काँचीपुरी, (३) हनुमत् चरित ललाम, (४) सुंदर सानु कथा तथा (५) ताते सुंदर नाम॥' इस काण्डके सुन्दर नाम पड़नेके अनेक कारण हैं। पहले यह कि इसका 'मनभावन' से उपक्रम है। यथा—*'जामवंतके बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥'* और 'मनभावन' से ही उपसंहार है, यथा—*'निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मन भायऊ'* इससे सुन्दर नाम पड़ा। दूसरे यह कि यह पाँचवाँ सोपान पाँचवीं मोक्षपुरी काञ्ची है, जिस भाँति काञ्चीपुरीके दो भाग हैं—(१) शिवकाञ्ची, (२) विष्णुकाञ्ची। इसी भाँति इस काण्डमें दो चरित्र हैं—पूर्वार्धमें हनुमत-चरित और उत्तरार्धमें रामचरित्र, अतः हरिहरात्मक होनेसे सुन्दर नाम पड़ा। तीसरे इसमें रामायण-महामालाके रत्न हनुमान्‌जीका चरित्र है, इससे सुन्दर नाम पड़ा। चौथे चित्रकूटाचलके तीन शिखर हैं—(१) नील, (२) सुन्दर और (३) सुबेल। सो इस काण्डमें प्रधानतः सुन्दर शिखरसम्बन्धी कथा है, जिसपर अशोकवाटिका थी, अतः सुन्दर नाम पड़ा और इस काण्डमें सभी कुछ सुन्दर है। इस पार *'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर'*, उस पार *'कनक कोटि बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना।'* जिस मुद्रिकाको लेकर हनुमान्‌जी चले वह सुन्दर, यथा—*'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर॥'* फल-फूल सुन्दर, यथा—*'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥'* पाँचवें, यह कथा अति सुंदर है; यथा—*'सावधान मन करि मुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥'* अतः सुन्दर नाम पड़ना हर तरहसे प्राप्त है।

प० प० प्र०—'सुन्दर' शब्दकी व्युत्पत्ति 'अमरव्याख्या सुधा' में इस प्रकार है—'**सु द्रियते। दृङ् आदरे**'। इस तरह सुन्दर=बहुत आदरणीय। '**यद्वा सु उनत्ति, चित्तं द्रवीकरोति। उन्दी क्लेदने।**' इस तरह सुन्दर=जिससे चित्त द्रवित हो जाय। इस व्युत्पत्तिकी कसौटीपर सभी काण्डोंके प्रसंगोंको कसनेसे प्रतीत हो जाता है कि 'सुन्दर' नाम केवल इसी काण्डको दिया जा सकता है। इस काण्डमें एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है जिससे आदर न उत्पन्न होता हो। बहुत प्रसंग ऐसे हैं जिनसे चित्त भी द्रवित होता है।

हनुमान्‌जीकी वानरोंसे विनय, पर्वतपरसे उड़ान, जलनिधि और मैनाकचरित, मैनाकसे हनुमान्‌जीका व्यवहार, सुरसापरीक्षा-प्रसंग, छायाग्रह-विनाश, फलादिसे सम्पन्न उपवन देखकर भी फलादिका स्पर्श भी न करना, नगर-प्रवेशमें दक्षता, लंकिनीकी स्वकार्यनिष्ठा और दक्षता, तुलसिकावृन्दादिसे स्वभाव निश्चय करनेमें हनुमान्‌जीकी मानवस्वभावज्ञाननीति-निपुणता, हनुमान्-विभीषण-मिलन, अशोकवाटिकामें रावणके सम्भाषणके समय हनुमान्‌जीकी स्थिरता और इन्द्रिय-संयम इत्यादि प्रत्येक चरित आदरणीय हैं। त्रिजटाचरित्र, सीता-सान्त्वन इत्यादि आदरणीय तो हैं ही, साथ ही ये प्रसंग हृदयको पिघलाकर पानी-पानी कर देते हैं। अन्य काण्डोंमें यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ-बालमें सतीकी अश्रद्धा, पतिके वचनपर अविश्वास, असत्य-भाषण, नारदजीका अहंकार और भगवान्‌को कटुवचन कहना इत्यादि। अयोध्यामें कैकेयी और मन्थराका चरित, भरतजीद्वारा किया हुआ माताका अधिक्षेप, पतिका शव घरमें है और कैकेयी *'सजि आरती मुदित उठि धाई।'*······' इत्यादि। अरण्यमें सीताजीका मर्मवचन बोलना तथा रावणका चरित। किष्किन्धामें बिना अपराध सुग्रीवके प्राणोंका गाहक तथा अनुजवधूरत होना इत्यादि बालिचरित और सगे भाईकी हत्या कराना तथा *'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिर सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥'* (१। २९) इत्यादि सुग्रीवचरित। लंकामें मंदोदरीका पतिको नीच, निर्लज्ज आदि कहना, वानरोंका *'धरि केस नारि निकारि बाहेर तेति दीन पुकारहीं'* यह चरित, इत्यादि। उत्तरकाण्डमें गरुड़-मोह, भुशुण्डिमोह, रामराज्यमें भी सीता-ऐसी पतिव्रताकी निन्दा करना।—ये चरित आदरोत्पादक नहीं हैं।

[☞ सुन्दरकाण्ड नाम क्यों रखा गया? यह प्रश्न उठाकर टीकाकारों तथा अन्य महानुभावोंने उसके उत्तर दिये हैं। अतएव यहाँ भी कुछ उद्धरण दिये गये; परंतु मेरी समझमें यह प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता। क्योंकि 'श्रीमद्रामचरितमानस' में काण्डोंके नाम प्रथम सोपान, द्वितीय सोपान इत्यादि ही रखे गये हैं, न कि बाल, अयोध्या इत्यादि। जब रामचरितमानसके इस काण्डका नाम 'पञ्चम सोपान' है, तब उपर्युक्त प्रश्न ही व्यर्थ हो जाता है।]

नान्या स्पृहा रघुपते हृदये*ऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥२॥

अन्वय—हे रघुपते! अस्मदीये हृदये अन्या स्पृहा न, सत्यं वदामि, च भवान् अखिलान्तरात्मा (अस्ति)। हे रघुपुङ्गव! मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ, च मानसं कामादिदोषरहितं कुरु॥ २॥

अर्थ—हे रघुनाथजी! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा हैं। (अन्तर्यामी हैं, अतः सबके हृदयकी जानते हैं कि) मेरे हृदयमें और कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलश्रेष्ठ! मुझे अपनी परिपूर्ण भक्ति दीजिये और मेरे हृदयको काम आदि (षट्) विकारोंसे रहित कीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ **'नान्या स्पृहा'**—अन्य कुछ नहीं अर्थात् ऋद्धि, सिद्धि, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष कुछ भी नहीं चाहता, यथा—***'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान। जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥'*** (२। २०४) ***'चहउँ न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई॥'*** (विनय० १०३) **'सत्यं वदामि,'** यथा—***'सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।'*** (१। ९) ***अखिलान्तरात्मा***=अन्तर्यामी हो, अतः सबकी जानते हो। यथा—***'अंतरजामी प्रभु सब जाना।'*** (७। ३६) ***प्रयच्छ***=दीजिये। ***रघुपुङ्गव***=रघुकुलमें श्रेष्ठ। यथा—***'रघुकुल दीपहिं चलेउ लेवाई।'*** (अ० ३८), ***'रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा।'*** (अ० ५२) [**'निर्भरां इति'**। निर्भर भक्तिके दो अर्थ होते हैं। एक तो 'परिपूर्ण, अविचल और अतिशय'। यथा—***'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥', 'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।', 'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥'*** (सुतीक्ष्णजीका प्रेम। आ० १०), ***'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥'*** (उ० ८४), ***'तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये।'*** (अत्रिजी। आ०) दूसरा अर्थ है—'वह भक्ति जिसमें मनुष्य अपनी शरीरयात्रा तथा आत्मयात्राके निर्वाहका सम्पूर्ण भार श्रीजानकीनाथके चरणारविन्दोंमें समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है'। यहाँ दोनों अर्थ हैं।] ***कामादि दोष***=काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर षट् विकार। इन विकारोंके रहनेसे भगवान्‌की प्राप्ति दुर्लभ है। कहा भी है—***'काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर मैं बस ताके॥'*** (आ० १६) अर्थात् उनके रहते हुए भगवान् श्रीराम हृदयमें निवास नहीं करते। इसीसे हृदयको कामादि दोषोंसे रहित करनेकी प्रार्थना करते हैं। (पं० रामकुमारजी) [विनयमें भी ऐसी ही प्रार्थना बारंबार की गयी है। यथा—**'लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराज बंधु खल मार। तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार॥'** प्रथम ***'काम'*** शब्द देनेका भाव यह है कि षड् रिपुओंमें भक्तिका मुख्य बाधक यही है। यथा—***'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।'*** इसीसे इनमें भी ***'काम'*** को ही प्रथम कहा गया। उत्तरार्द्धमें योग और क्षेम दोनोंकी याचना की। **'भक्तिं प्रयच्छ'** यह योग और **'कामादिदोषरहितं कुरु'** यह क्षेम है। भक्तका मन निर्मल होता है पर मायावश कुसङ्गादि पाकर उनका मन भी मैला हो जाता है, यह बाल० (१। ४) ***'जनमन मंजु मुकुर मल हरनी'*** की टीकामें बताया गया है। देखिये भक्तप्रवर श्रीनारदजीके ***'सहज बिमल मन'*** में कामके जीतनेका अहङ्कार, विश्वमोहिनीकी प्राप्तिका लोभ और उसके न मिलनेपर क्रोध सभी विकार उत्पन्न हो गये थे। काम-क्रोधादि भक्तोंके शत्रु हैं, सदा घातमें लगे रहते हैं। श्रीमुखवचन है—***'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥'''दुहूँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।'*** (३। ४३। ८-९) इससे भगवान् कहते हैं कि ***'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'*** (३। ४३। ५) इसीसे गोस्वामीजी भक्तिकी याचना करके उसकी कामादिसे रक्षा भी माँगते हैं।]

टिप्पणी—२ (क) **'नान्या स्पृहा'** अर्थात् कोई काङ्क्षा नहीं है, यह कहकर अपनेको अकिंचन बताया और इसकी पुष्टताके लिये **'सत्यं वदामि'** और **'अखिलान्तरात्मा'** कहा। इस प्रकार अपनेको भक्तिका अधिकारी

* हृदयेऽस्मदीये—ना० प्र०।

ठहराकर तब भक्ति माँगते हैं। क्योंकि जो कुछ नहीं चाहता वही भक्तिका अधिकारी है, उसीको भक्ति मिलती है। यथा—'*बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ॥*' (२। १०२) (ख) '**रघुपुङ्गव**' कहकर निर्भर भक्ति माँगनेका भाव यह है कि जैसे आप रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं वैसे ही श्रेष्ठ भक्ति मुझे दीजिये। भक्ति ही माँगते हैं, क्योंकि इससे बढ़कर कोई लाभ नहीं है। यथा—'*लाभ कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥*' (उ० ११२। ८)

प० प० प्र०—'**भक्तिं प्रयच्छ**·······' इति। यहाँ यह शंका होती है कि 'यह याचना इसी काण्डमें क्यों की गयी? यह श्लोक श्रीरामवन्दना और श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दनाके बीचमें क्यों रखा? प्रथम शंकाके समाधानके लिये पिछले चार काण्डोंका सिंहावलोकन अति संक्षिप्तरूपमें करना पड़ेगा। बालकाण्डमें कहा है कि स्वान्तःसुखकी प्राप्ति चाहिये, इसके लिये स्वान्तःस्थ ईश्वरका दर्शन चाहिये। ईश्वर कौन हैं और उनकी प्राप्तिका साधन क्या है यह '**रामाख्यं ईशं हरिम्**' और '**यत्पादप्लवमेकमेव हि**' से बताया। विश्वासाश्रित सात्त्विक श्रद्धासे धर्माचरण करनेसे वैराग्य होता है यह '*भरत चरित करि·····बिरति*' से बताया। सद्गुरु संत संगति बिना श्रद्धा, धर्म, वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति नहीं यह बा० मं० श्लो० ३ का विषय अरण्यकाण्डमें बताया। वैराग्यादि साधनोंकी प्राप्ति 'राम' महामन्त्रके अनुष्ठानसे होगी यह किष्किन्धाकाण्डमें कहा। जब पूर्वोक्त साधनोंसे मोक्ष-प्राप्तिकी शुभवासना भी निःशेष हो जाती है, तब वह भक्तिका अधिकारी बनता है, यह इस श्लोकमें बताया।

दूसरी शंकाका समाधान यह है कि भक्तिका अधिकारी साधक यद्यपि प्रार्थना कर रहा है सही तथापि केवल उसकी याचनापर भगवान् उसे वह अनुपम भक्तिरस थोड़े ही दे देंगे। वे देखते हैं कि इसकी पीठपर कौन है, किसका सहारा लेकर यह आया है। किसी महान् भक्तका सहारा लेकर आया होगा तो उसकी मुरव्वतसे देना ही पड़ेगा। अतः अगले श्लोकमें श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना है जो कैसे बलवान् रक्षक हैं यह श्लोक तथा काण्डभरसे स्पष्ट है। भगवान् जिनके वशमें हैं वही पीठपर हैं। इससे यह जनाया कि श्रीरामभक्तिकी प्राप्तिके लिये इनकी कृपाका सम्पादन आवश्यक है।

टिप्पणी—३ '**कामादिदोषरहितं कुरु**' कहनेका भाव कि मेरे हृदयमें श्रीसीता-अनुजसहित धनुषबाण धारण करके बसिये, इससे कामादि निकट न आ सकेंगे। यथा—'*तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद नाना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥*' (५। ४७) इसीसे अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि महर्षियोंने माँगा है कि '*अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम। मम हिय बसहुँ·······।*' (३। ११), '*हृदि बसि राम काम मद गंजय।*' (७। ३४)

नोट—१ यह श्लोक वसन्ततिलकावृत्तमें है। इस वृत्तके प्रत्येक चरण चौदह-चौदह अक्षरके होते हैं। तगण, भगण, दो जगण और अन्तमें दो वर्ण गुरु रहते हैं। मानसभरमें केवल दो वृत्त ऐसे आये हैं। एक बालकाण्ड मं० श्लोक ७ में और दूसरा यहाँ। (बा० मं० श्लोक ७ देखिये)

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्*।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥ ३॥

अन्वय—**अहं अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं श्रीरघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥ ३॥**

अर्थ—अतुल बलके स्थान, सोनेके पर्वतके समान कान्ति और शोभायुक्त शरीरवाले, दैत्यरूपी वनके लिये अग्निरूप, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य (श्रेष्ठ, प्रधान, शिरोमणि), समस्त गुणोंके खजाना वा समुद्र, वानरोंके स्वामी, श्रीरघुनाथजीके श्रेष्ठ दूत पवनके पुत्र श्रीहनुमान्‌जीको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३॥

वि० त्रि०—'**धामम्**' यह धामन् शब्दके तद्भवका रूप है, '**अन्त्यस्य हलो नित्यम्**' इस प्राकृत सूत्रसे

* गण्यम्—ना० प्र०। शुद्धरूप यही है। परंतु प्राचीन प्रतिलिपियोंमें 'गण्यं' ही है।

'न' का लोप होकर **धामम्** शब्द सिद्ध होता है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ भाषा (प्राकृत) में लिखा गया है, श्लोकादि सब प्राकृतके नियमके अधीन हैं। पूज्यपाद ग्रन्थकारने भाषा शब्दसे प्राकृतका ही ग्रहण किया है, यथा—*'जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने॥'* प्राकृतमें तत्सम, तद्भव और देशोद्भव रूपोंका ग्रहण होता है।

टिप्पणी—१ **'अतुलितबलधामम्'** यथा—*'पवनतनय बल पवन समाना।'* (४। ३०) *'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धिनिधान।'* (५। २), *देखि बुद्धि बल निपुन कपि।'* (५। १७) [महादेवदत्तजी लिखते हैं कि 'धाम (निवास-स्थान) कहनेका भाव यह है कि रघुनाथजी अतुलित बली हैं यथा—*'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।'* (आ० २) हनुमान्‌जी उनके भी निवासस्थान हैं यथा—*'जासु हृदय आगार बसहिं राम सरचापधर।'* (१। १७) *'हनुमंत हृदय वापी मराल।'* (विनय० ६४) अतः इनको *'अतुलितबलधाम'* कहा।'] **स्वर्णशैलाभदेहम्**=स्वर्णशैल (सुमेरुपर्वतकी)+आभ (कान्तिके समान)+देहवाले यथा—*'कनकभूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा॥'* (सुन्दरकाण्ड १६) *'जातरूपाचलाकारविग्रह'* (वि० २८) आभा=कान्ति, प्रकाश। दनुज वन कृशानु, यथा—*'प्रनवउँ पवनकुमार खलबन पावक ग्यानघन', 'उलटि पलटि लंका कपि जारी।', 'रामरोषानलज्वालमालामिव ध्वांतचरसलभसंहारकारी।'* (वि० २७) अग्निरूप कहनेका भाव कि अग्नि सबको जला सकती है और उसका कोई कुछ कर नहीं सकता। यथा—*'काह न पावक जारि सक।'* इसी तरह ये लंकाको जलाकर चले गये; इनका कोई कुछ कर न सका। यथा—*'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब तें जारि गयउ कपि लंका।'* (सुन्दर० ३६) [**'ज्ञानिनामग्रगण्यम्,'** यथा—**'ज्ञानघन'** (१। १७) **'वन्दे विशुद्धविज्ञानौ·····।'** (१ मं० श्लो०), *'तोसो ज्ञाननिधानको सर्वज्ञ बिया रे।'* (वि० ३३), *'वेदान्तविद···ज्ञानवैराग्य विज्ञानभाजन।'* (वि० २६) पं० रामकुमारजीने *'मिला हमहिं कपि गुर बड़ ज्ञानी'* इसका उदाहरण दिया है पर ये वचन व्यंगके हैं अतः उदाहरण नहीं हो सकते।] **अग्रगण्यम्**=जिसकी प्रथम गणना है; श्रेष्ठ। **सकलगुणनिधानम्** यथा—*'अजर अमर गुननिधि सुत होहू।'* (१७। ३), *'सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत।'* (६। १०६) *'बिमल गुन बुद्धि बारिधि बिधाता।'* (वि० २५) **'वानराणामधीशम्'**, यथा—*'नवतुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।'* (५। ५) यहाँ शंका यह होती है कि वानरोंके राजा तो सुग्रीव हैं। यहाँ हनुमान्‌जीको राजा कैसे कहा? इसका समाधान यह है कि राजाका धर्म रक्षा करना है। हनुमान्‌जीने वानरोंके प्राणोंकी रक्षा की है, इस भावसे उनको अधीश्वर कहा। यथा—*'राखे सकल कपिन्ह के प्राना।'* विशेष बा० श्लो० ४ में देखिये। **'रघुपतिवरदूतम्'**, यथा—*'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी', 'रामदूत मैं मातु जानकी।'* **'वरदूतम्'** कहनेका भाव यह कि इन्होंने आज्ञासे अधिक काम किया। यथा—*'रामकृपा भा काज बिसेषी।'* **'वातजातम्'**, यथा—*'जीति न जाइ प्रभंजन जाया।', 'पवनतनय'।*

नोट—१ इस काण्डमें श्रीहनुमान्‌जीका ही कर्तव्य मुख्य है। यह बात कविने इस श्लोकमें ही विशेषणोंद्वारा प्रकट कर दी है। यह बात टि० २ से स्पष्ट हो जाती है। यह मङ्गलाचरण काण्डभरके प्रसंगोंका बीज है। पं० विजयानन्द त्रिपाठी भी लिखते हैं कि इस श्लोकमें सम्पूर्ण हनुमत्-चरितका बीज है। **'अतुलितबलधामम्'** से समुद्रोल्लङ्घन तथा सुरसादिका अतिक्रमण कहा। **'स्वर्णशैलाभदेहम्'** से जानकीजीको भरोसा देना कहा, यथा—*'कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति रनधीरा॥ सीता मन भरोस तब भयऊ।'* **'दनुजवनकृशानुम्'** से अक्षादिका वध तथा लंकादाह कहा, **'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'** से रावणको उपदेशदान कहा; **'सकलगुणनिधानम्'** से जानकीजीका आशीर्वाद कहा, यथा—*'अजर अमर गुननिधि सुत होऊ'*, **'वानराणामधीशम्'** से इनके द्वारा सब बन्दरोंके प्राणोंकी रक्षा कही, यथा—*'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥'* **'रघुपतिवरदूतम्'** से संदेश देनेकी पण्डिताई कही, यथा—*'बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहँ जल जाना'॥* तथा कहे हुए कार्यके अविरोधी अधिक कार्य करना कहा, यथा—*'नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचरगन बधि बिपिन उजारा'* इत्यादि। **'वातजातं नमामि'** से श्रमरहित होना कहा।

नोट—२ **'अतुलितबलधामम्'** से जनाया कि इस काण्डमें बल और बुद्धिके ऐसे-ऐसे चरित करेंगे

कि जिनकी तुलनाका अन्यत्र कोई न मिलेगा। '**स्वर्णशैलाभदेहम्**' से जनाया कि ऐसी भयंकर तप्तकाञ्चन-समान देह धारण करेंगे। यह उनका स्वाभाविक रूप नहीं है। यथा—'*रामकाज लगि तव अवतारा। सुनतहि भयउ पर्बताकारा॥ कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥*' (४। ३०)। (प० प० प्र०) अथवा, '**अतुलितबलधामम्**' के पश्चात् '**स्वर्णशैलाभदेहम्**' कहनेका भाव कि श्रीहनुमान्‌जीमें जैसा अतुल बल है वैसा ही उनका अतुल शरीर है। (पं० रामकुमार) मा० शं०—कार लिखते हैं कि '**स्वर्णशैलाभदेहम्**' का भाव यह है कि सोना अग्निमें नहीं जलता और न विकारको प्राप्त होता है। यथा—'*कनकहु पुनि पषान ते होई। जारेहु सहजु न परिहर सोई॥ कनकहु बान चढ़इ जिमि दाहे।*' इससे जनाया कि इसी प्रकार ये सब लंकाको जलावेंगे, पर स्वयं न जलेंगे। वरंच इनकी कान्ति बढ़ जायगी। पुनः, जानकीजी इनको यह वर देंगी कि '*अजर अमर गुननिधि सुत होहू*'। अजरका एक अर्थ यह भी है कि जो जल न सके।

नोट—३ '**स्वर्णशैलाभदेहम्**' के बाद '**दनुजवनकृशानुम्**' कहनेका भाव कि सोनेके रंगके समान ही अग्निका भी रंग होता है। अग्नि वनको जलाती है। ये राक्षसरूपी वनको जलावेंगे। इस विशेषणसे इनमें वैरभाव एवं अज्ञानका होना सम्भावित होता है; अतः '**ज्ञानिनामग्रगण्यम्**' कहा। इनमें अज्ञानका लेश नहीं है। इसीसे '**दनुजवनकृशानुम्**' के बाद ही '**ज्ञानिनामग्रगण्यम्**' कहा गया। विशेष बा० १७ में देखिये। फिर '**सकलगुणनिधानम्**' कहकर जनाया कि ये केवल विज्ञानी ही नहीं हैं वरन् ये सर्वगुणसम्पन्न हैं। तात्पर्य यह कि वानरोंमें गुण नहीं होते। पर ये सब गुणोंसे युक्त हैं। इसीसे '**वानराणामधीशम्**' कहा। '**रघुपतिवरदूतम्**' कहकर शीघ्रगामी भी जनाया। इनकी उत्पत्ति भी शीघ्र गमन करनेवालेसे है। यह व्यक्त करनेके लिये '**वातजातम्**' कहा। बा० १७ देखिये। '**नमामि**' से मनोरथकी सिद्धि चाहते हैं। इस काण्डके प्रधान देवता (चरितनायक) ये ही हैं। अतएव इनकी वन्दना करके काण्डकी सिद्धि चाहते हैं (पं० रामकुमारजी)।

नोट—४ '**वातजातम्**' नामके और भाव ये हैं कि '**वात**' (पवनदेव) का बल अप्रमेय है। इसीसे तो वे '**प्रभंजन**' कहलाते हैं। वे अजेय हैं, बड़े शीघ्रगामी हैं, सबके शरीरमें प्राणरूपसे रहते हैं। वैसे ही हनुमान्‌जी अतुलित बलधाम हैं, अजेय हैं, अत्यन्त शीघ्रगामी हैं, मनोवेगवान् हैं, सबके प्राणोंके रक्षक हैं एवं पिताके भी रक्षक हैं। यथा—'*पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥*' (कि०), '*जीति न जाइ प्रभंजन जाया।*' (सुं०); '*जारा नगर निमिष एक माहीं।*' (सुं० २६) '**लक्षाणां षष्टिरास्ते द्रुहिणगिरिरितो योजनानां हनूमांस्तैलाग्नेः सर्षपस्य स्फुटनरवपुरस्तत्र गत्वाऽत्र चैमि।**' (हनु० ना० १३। २०); '*राखे सकल कपिन्ह के प्राना।*' (सुं०) तथा '**त्वद्गतानि च सर्वेषां जीवितानि वनौकसाम्।**' (वाल्मी० कि० ६७। ३६) अर्थात् सब वानरोंका जीवन तुम्हारे अधीन है। इन्होंने पवनदेवहीको नहीं किंतु समस्त लोकपालोंको रावणके बंदीखानेसे छुड़ाया है। यथा—'**देव बंदीछोर रनरोर केसरीकिसोर।**' (बाहुक)। पवनदेव स्वयं रावणसे भयभीत रहते थे। यथा कवित्तरामायणे—'**समय पुराने पात झरत डरत बात।**' रावणसे पिताकी रक्षा करके सुपूत पुत्र हुए। अतः '**वातजातम्**' युक्तियुक्त ही हैं। पुनः, बिना आधारके ही समुद्र पार करनेसे भी '**वातजातम्**' कहा।

श्रीमहादेवदत्तजी कहते हैं कि (क) '**वातजात**' नामसे वन्दना करके कविने '**भवितव्य**' सूचित किया है। यथा—'*जात पवनसुत देवन्ह देखा।*', '*तरकेउ पवनतनय बल भारी।*', '*ताहि मारि मारुतसुत बीरा।*' (ख) पिताके तुल्य पुत्र होता है, यथा—'**आत्मा वै जायते पुत्रः**', '*यह तनय मम सम बिनय बल*', '*पवनतनय बल पवन समाना।*' पवनका स्वरूपगुण शीतल है, अतः ये श्रीसीताजीको शीतल करेंगे। यथा—'*तोहि देखि सीतल भइ छाती।*' मा० त० सु० का मत है कि यहाँ अतिशीघ्र गमनसे तात्पर्य है। यथा—'*कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु।*'

नोट—५-पं० श्रीधरमिश्रजी लिखते हैं कि 'यहाँ आठ विशेषणोंसे श्रीहनुमान्‌जीके आठ नामोंकी वन्दना की है। ये आठ नाम हनुमान्‌जीके हैं। इन सबके अन्तमें '**नमामि**' कहनेसे यह श्रीहनुमानष्टक होता है। इस काण्डकी कथाओंके उदाहरण जो टिप्पणी १ में इन नामोंके साथ दिये गये हैं उनमें ये आठों नाम स्पष्ट हो जाते हैं।'

नोट—६ इस काण्डमें शिवजीका मङ्गलाचरण नहीं किया गया। उसके स्थानपर हनुमान्‌जीकी वन्दना की गयी है। ऐसा करके पूज्य कविने दोनोंमें अभेद सूचित किया है। यथा—*'रुद्र देह तजि नेह बस बानर भे हनुमान।'* (दो०), *'देवमनि रुद्र अवतार संसारपाता।'* (वि० २५), *'जयति मर्कटाधीस मृगराजविक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली।'* (वि० २६), *'जयति मंगलागार संसारभारापहर बानराकारविग्रह पुरारी।'* (वि० २७) इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि स्वयं शंकरजी श्रीहनुमान्‌रूपसे अवतरित हुए हैं। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि अरण्यकाण्ड मं० श्लोकमें **'स्व:सम्भवं शङ्करम्'** शब्द हैं। **स्व:संभवम्**=वात। इस तरह **वातजातम्**=शंकरजात। इस तरह मानससे भी शङ्करावतार सिद्ध हुआ। इस काण्डके चरितको भुशुण्डिजीने द्वादश प्रसंगोंमें समाप्त किया है। उ० ६७ (३—८) देखिये।

शङ्का—सब काण्डोंके आदिमें सोरठा या दोहा देकर प्रारम्भ किया है। पर यहाँ कोई सोरठा या दोहा नहीं दिया। यह क्यों?

समाधान—१ सोरठा या दोहा विश्रामका सूचक है और यहाँ हनुमान्‌जीने विश्राम नहीं किया। यथा—*'रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम।'* जब अपने इष्टदेवको या काण्डके प्रधान नायकको विश्राम करना अभीष्ट नहीं है तब कवि अपने लेखमें विश्राम कैसे दें? अत: श्लोकोंके बाद सोरठा या दोहा न दिया। अथवा इसका कोई नियम नहीं है। कहीं सोरठेसे और कहीं दोहेसे प्रारम्भ किया है। वैसे ही यहाँ चौपाईसे ही प्रारम्भ किया।

☞ २—श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना 'मंजु मालिनी' वृत्तमें की गयी है। श्रीरामचरितमानसभरमें यह वृत्त केवल एक और यहीं आया है। सम्भव है कि छन्दमें 'मंजु' पद देकर 'सुन्दर' काण्डमें उसके प्रधान नायक और अपने इष्टदेव श्रीहनुमान्‌जीका मङ्गलाचरण इसी छन्दसे किया हो। इसके चारों चरण १५-१५ अक्षरके होते हैं। इसमें ८ और ७ पर यति होती है और इसका स्वरूप दो नगण, एक मगण और दो यगण ऐसा है।

३—कोई-कोई कहते हैं कि—(क) इस काण्डमें हनुमान्‌जी सुमेरु हैं। यथा—*'कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहु अपर गिरिन्ह कर राजा॥'*, **'स्वर्णशैलाभदेहम्'**, *'कनकभूधराकार सरीरा।'* और प्रकरणमें सोरठा या दोहा सुमेरु कहलाता है। तो सुमेरुपर सुमेरु कैसे रखें? (ख) हनुमान्‌जी रामायणरूपी मालाके सुमेरु हैं। यथा—**'रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्।'** और सब काण्डोंमें यह क्रम है कि सोरठा या दोहासे प्रारम्भ करके सोरठे या दोहेपर समाप्त किया है जैसे माला सुमेरुसे प्रारम्भ होकर सुमेरुपर समाप्त होता है। (ग) यह श्लोक सुमेरुरूप दे दिया। तब सोरठा कैसे दें? (मा० शं०)

४—मा० शं० स० कारने काण्डको चौपाईसे प्रारम्भ करनेका कारण श्रीहनुमान्‌जीको चौपाया कहा है। यह भाव नहीं है, अनर्थ है। व्यास लोग भी यह भाव जहाँ-तहाँ कह देते हैं। अत: उसको लिखना पड़ा। उसके सम्बन्धमें हम श्रीत्रिपाठीजीके विचार लिखते हैं—**'बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्'** इस उक्तिसे स्पष्ट है कि हनुमान्‌जीको दो हाथ और दो पैर थे। बन्दर चतुर्भुज होते हैं, उन्हें पैर होता ही नहीं, जिसे लोग पैर कहते हैं, भलीभाँति विचारकर देखिये, वे हाथ ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'हनुमान्‌जी चौपाया हैं, इससे उनके काण्डको चौपाईसे आरम्भ किया' यह उक्ति अत्यन्त अशोभन है। (मा० शं० स० कारने सम्भवत: यह भाव क० कि० १ *'चारिहू चरनके चपेट चाँपे'* से लिया हो।)

'लाँघत भयउ पयोधि अपारा'-प्रकरण

जामवंतके बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥ १॥

अर्थ—जामवन्तके सुन्दर वचन सुनकर हनुमान्‌जीके हृदयको बहुत अच्छे लगे॥ १॥

वि० त्रि०*'जामवंत'* ····' इति। **'आल्विल्लोल्ला लवन्तेन्तामतुप:'** प्राकृत-प्रकाशके इस सूत्रसे जाम्बवान्‌का तद्भवरूप 'जामवन्त' हो गया, तथा **'पक्षे मन्तादेश:'** इस सूत्रसे 'हनुमान्' शब्दका तद्भवरूप *'हनुमंत'* सिद्ध होता है, इसी प्रकार **'दाढादयो बहुलम्'** इस सूत्रसे 'प्रतीक्षहु' का *'परिखहु'* हो गया।

टिप्पणी—१ जामवन्तके वचन किष्किन्धाकाण्डके अन्तमें हैं जो उन्होंने हनुमान्‌जीके *'जामवंत मैं पूछौं तोही। उचित सिखावन दीजै मोही॥'* इन वचनोंके उत्तरमें कहे थे। इस काण्डके आदिमें *'जामवंतके बचन सुहाए'* लिखकर किष्किन्धाकाण्डका प्रसंग मिलाया।

टिप्पणी—२ वचनको *'सुहाए'* कहा। क्योंकि इनके वचनोंमें रामचरित्रका वर्णन है। *'सुहाए'* विशेषण देकर जनाया कि जितनी प्रपञ्चकी बातें हैं वे सब 'असुहाई' हैं। भगवत्‌भागवतयशकथन ही 'सुन्दर' है और सब 'असुन्दर'। १— 'भागवतयश'—यथा—*'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥ पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥' 'रामकाज लगि तव अवतारा'*। २—'भगवत्-यश' यथा—*'तब निज भुजबल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥ ''' 'परमपद नर पावई।'*

टिप्पणी—३ *'अति भाए'* इति। (क) जामवन्तजीने दो प्रकारके वचन कहे। एकमें हनुमान्‌जीका गुण कहा है और दूसरेमें सिखावन। *'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥ पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥''' सुनतहि भयउ पर्वताकारा।'* ये वचन हनुमान्‌जीके गुण हैं, उनकी अपनी प्रशंसाके हैं। पर इनके अन्तमें जो वचन हैं *'रामकाज लगि तव अवतारा'* ये भाये; क्योंकि उन्हें स्मरण हो आया कि हमारा अवतार श्रीरामकार्यके लिये हुआ था, यह हम भूल ही गये थे इत्यादि। *'भाए'*, इसीसे *'सुनतहि भयउ पर्वताकारा'*। (प० प० प्र० का मत है कि इन वचनोंको *'भाए'* कहनेसे समझा जायगा कि हनुमान्‌जी संत नहीं हैं। क्योंकि संत तो *'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।'* (३। ४६। १)। आगे सिखावन है। *'एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥ तब निज भुजबल राजिवनयना। कौतुक लागि संग कपि सैना॥''' परमपद नर पावई॥'* ये वचन *'अति भाए'*। क्योंकि हनुमान्‌जी रामचरितके रसिक हैं। इसीसे हनुमान्‌जीके वचन जानकीजीको सुहाये। दोनोंका मिलान आगे लिखा जायगा। (प० प० प्र० का मत है कि इनमेंसे *'एतना करहु तात''' सुधि आई'* भाये और शेष अति भाये।) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि *'कपि सेन संग संहारि निसिचर राम सीतहि आनिहैं। त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥'* यही जामवन्तजीके *'सुहाए'* वचन हैं। ये सबको भाये, पर हनुमान्‌जीको अति भाये। जो बात जिसे अत्यन्त अच्छी लगती है, उसे अवसर पानेपर वह अवश्य दूसरोंसे कहता है। हनुमान्‌जीने ठीक यही बात भगवती जनकनन्दिनीसे कही, यथा—*'कपिन्ह सहित ऐहैं रघुबीरा॥ निसिचर मारि तोहि लै जैहैं। तिहुँ पुर नारदादि जस गैहैं॥'* इससे सिद्ध है कि ये वचन हनुमान्‌जीको अत्यन्त अच्छे लगे। पुनः (ख) *'अति भाए'* का भाव कि उनके वचन सभी वानरोंको *'भाए'*। पर हनुमान्‌जीको *'अति भाए'*; क्योंकि रामचरित-श्रवणके जैसे रसिक ये हैं वैसा दूसरा नहीं है। यथा—**'यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्। वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।'**, *'जयति रामायण श्रवण संजात रोमांच लोचन सजल सिथिल बानी।'* (विनय०)। विशेष बा० मं० श्लोक ४ देखिये।

मा० त० सु०—(क) इस चौपाईमें *'सुहाए'* शब्दसे *'असुहाए'* और *'अति सुहाए'* पदोंका भी ग्रहण होता है। तात्पर्य कि जो *'असुहाए'* थे वे *'अनभाए'* हुए। *'सुहाए'* वचन *'भाए'* और *'अति सुहाए'* वचन *'अति भाए'*। यह सब श्रीहनुमान्‌जीके वाक्यमें संगठित है। इसका क्रम दिखाते हैं।

	श्रीजाम्बवान्‌जीके वाक्य	श्रीहनुमान्‌जीके वाक्य
१ *असुहाए अनभाए*	*'का चुप साधि रहेउ बलवाना'* से *'जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं'* तक प्रशंसाके वचन।	*'सिंहनाद करि बारहिं बारा'* से *'आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी'* तक प्रभुकी आज्ञासे विरुद्ध है।
२ *सुहाए भाए*	*'रामकाज लगि तव अवतारा'*	*'जामवंत मैं पूछौं तोही। उचित सिखावन दीजहु मोही॥'*

३ *अति सुहाए* *'एतना करहु तात तुम्ह जाई'*
अति भाए से *'परमपद नर पावई'* तक

'अति भाए' अर्थात् बहुत प्रिय लगे, उचित जान पड़े। हनुमान्‌जीने सोचा कि मैंने इस शीघ्रतामें कि *'बीते अवधि काज कछु नाहीं।'* भविष्य-बात कह डाली, मेरे वचन अहंकारयुक्त थे और इन्होंने वर्तमान समयका काम सूचन किया। पुनः इनके वचन प्रभुप्रतापयुक्त हैं एवं प्रभुके वाक्यानुकूल हैं, (*'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु'।*) अतः *'अति भाए'।*

प्र०—अत्यन्त रुचे क्योंकि इन्होंने अपराध और स्वामि-अपमानसे बचा लिया। जो काम स्वामीको करना है वह सेवक कर डाले तो अपराध है। दूसरे इनके वचनोंसे थोड़े ही श्रममें रघुनाथजीके अनुकूल कार्यकी सिद्धि हो जायगी, अतः *'अति भाए'।*

मा० म०—हनुमान्‌जीने जो कहा था कि *'सहित सहाय रावनहि मारी।'* यह कार्य उनसे न हो सकता। क्योंकि रावणवध ब्रह्माजीने श्रीरामजीके द्वारा लिखा था। इसे अघटित जानकर जाम्बवान्‌जीने वही कहा जो रघुनाथजीने कहा था, जिससे श्रीजानकीजीका दुःख छूटे और हनुमान्‌जीका परिश्रम सत्य हो। अतः *'अति भाए'।*

यह चौपाई यात्राके लिये एक अनुभव सिद्ध मन्त्र है।

तब लगि मोहि परिखहु* तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ २॥
जब लगि आवउँ सीतहि देखी। होइहि† काजु मोहि हरष बिसेषी‡॥ ३॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले) हे भाई! तुम सब दुःख सहकर कन्द, मूल, फल खाकर मुझे तबतक परखना (मेरी राह देखना, प्रतीक्षा करना)॥ २॥ जबतक मैं श्रीसीताजीको देखकर लौट (न) आऊँ। काम अवश्य होगा। (क्योंकि) मुझे विशेष हर्ष हो रहा है॥ ३॥

नोट—१ मा० शं० स० में पं० गणेशदत्तजी लिखते हैं कि 'यत्' शब्दके पश्चात् *'तत्'* शब्द कहा जाता है। यथा, 'यत्-तत्', 'जब-तब'। परंतु यहाँ *'तब'* के पश्चात् *'जब'* का प्रयोग किया गया है। *'तब लगि मोहि', 'जब लगि आवउँ'।* इस प्रयोगमें क्या भाव है? और, इसका उत्तर यह देते हैं कि जहाँ कार्यका निश्चय रहता है वहाँ *'जब, तब'* कहा जाता है। यहाँ हनुमान्‌जी अपने आनेका अनिश्चय दिखाते हैं अर्थात् जनाते हैं कि हमारे आनेका निश्चय नहीं है कि कबतक लौट सकें अतएव *'तब, जब'* का प्रयोग हुआ।

टिप्पणी—१ *'परिखहु तुम्ह भाई'* इति। (क) हनुमान्‌जी जानते हैं कि सब घबड़ाये हुए हैं, कहीं ऐसा न हो कि हम श्रीसीताजीकी खबर लेने जायँ और इधर ये सब (विलंब हुआ देखकर) अपने-अपने घर चल दें तो फिर ये बुलानेसे भी न आयेंगे; समझेंगे कि अवधि बीत जानेके कारण सुग्रीव हमें मारनेके लिये बुलाते हैं (और यदि अन्यत्र कहीं जाकर छिप रहे तो हम इन्हें कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते फिरेंगे)। अतएव परखनेके लिये आश्वासन देते हुए निहोरा किया। [अथवा, प्रतीक्षा करनेका भाव कि विलम्ब होनेपर 'हमने अकेले हनुमान्‌को भेज दिया, अच्छा नहीं किया, चलो सब लोग उनकी सहायताके लिये त्रिकूटाचल चलें', (यथा—*'अंगद सुनेउ कि पवनसुत गढ़ पर गयउ अकेल। समर बाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल॥'*) ऐसा उद्योग न करना। मेरी प्रतीक्षा करना, क्योंकि कार्यसिद्धि होगी, इसमें संदेह नहीं। यहाँ यह शङ्का ठीक नहीं कि *'निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाइ कर संसय राखा॥'*

* परिषेहु—ना० प्र०। † होइहि—भा० दा०, छ०, का०। होइ—ना० प्र०।

‡ 'जामवंतके बचन सुहाए' से 'तब लगि मोहि परिखहु तुम्ह भाई' तक पायकुलक छंद है। 'सहि दुख कंद मूल फल खाई' नयमालिनी है। 'जब लगि आवउँ सीतहि देखी' तामरस है और 'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी' से 'चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा' तक पायकुलक है। (कविवर ब्रजचन्दजी)।

तो सब लोग समुद्र पार कैसे जाते? उत्तर यही है कि हनुमान्‌जीके लौटनेपर, बन्दरोंमें सलाह हुई कि लङ्का चलकर रावणको युद्धमें जीतकर, सीताजीको लेकर ही रामजीके पास चलना चाहिये, इतने बड़े-बड़े वीरोंका जाकर रामजीसे कहना कि श्रीसीताजीको तो देखा पर ला न सके, शोभा नहीं देता। **'दृष्ट्वा सीता न चानीता इति तत्र निवेदितुम्। अयुक्तमिव पश्यामि भवद्‌भिः ख्यातपौरुषैः॥'** (वाल्मी० ६०। ९) इससे स्पष्ट है कि और लोग भी पार जानेमें समर्थ थे, पर पार जाना ही तो यथेष्ट नहीं था, वहाँ सहज अशङ्क रावणसे भी मुठभेड़की सम्भावना थी, अतः सब लोग 'चंडकर मण्डल ग्रासकर्ता' हनुमान्‌जीको ही भेजना चाहते थे। इसलिये *'पार जाइ कर संसय राखा'* पार जानेमें संशय रखकर अपना बल कहा। वि० त्रि०)] (ख) *'भाई'* सम्बोधनकी रीति है। यथा—*'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥'* (७। ४३), *'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥'* (७। ४४), *'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥'* (७। ४५), *'बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥'* (७। ४६) (यह सम्बोधन प्यारका है। यथा—*'जग बहु नर सर सरि सम भाई।'* (१। ८। १३), *'जो नहाइ चह एहि सर भाई।'* (१८। ३९। ८) सजातियोंके लिये भी इसका प्रयोग होता है।) सब वानर एक जातिके हैं, अतः *'भाई'* सम्बोधन दिया।

टिप्पणी—२ *'सहि दुख कंद मूल फल खाई'* इति। (क) *'सहि दुख'* का भाव कि कार्यकी आशा न करके आप सब हमारी राह देखते रहेंगे यह आपको दुःख होगा। इस भावका प्रमाण यह है कि जब हनुमान्‌जी कार्य करके लौटे तब सब सुखी हुए। यथा—*'मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि बारी॥'* (२८। ५) [वानरोंको सागरतटपर कुछ कार्य तो है ही नहीं, स्वभावसे अति चंचल होनेसे स्वस्थ बैठे रहना ही बहुत दुःख है। चिन्तातुर तो रहेंगे ही (प० प० प्र०)। अथवा, शीत-घाम आदिका दुःख सहकर (प्र०)। बैजनाथजीका मत है कि हनुमान्‌जीका आशय यह है कि जबतक कन्दादि मिलें खाना, जब वे न मिलें तब भी यहाँसे न जाना, दुःख सहकर यहीं रहना।]

(ख) *'कंद मूल फल खाई'* इति। कन्दादि खानेको कहनेका भाव कि (पर्वतपर वृक्षोंपर चढ़-चढ़कर फल आदि खाते रहने और मेरी राह देखते रहनेसे जी बहलानेसे अधिक दुःख न होगा। प० प० प्र० वा,) सब अनशन-व्रत किये हुए थे, यथा—*'अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥'*; इनका अनशन-व्रत छुड़ाते हैं जिसमें चले न जायँ और आगे कार्यकी सिद्धि भी कहते हैं जिसमें इन्हें धीरज हो।

नोट—१ वाल्मीकीयमें जाम्बवान्‌जीने हनुमान्‌जीसे कहा है कि **'स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव'** (कि० ६७। ३५) तुम्हारे आनेतक हम सब एक पैरसे खड़े रहेंगे। इसीपर सबको धैर्य धारण करनेके लिये ये वचन कहे गये हैं। तात्पर्य कि भूखे मरने आदिकी आवश्यकता नहीं है, मैं खबर अवश्य लाऊँगा।

नोट—२ मा० श० कार लिखते हैं कि *'सहि दुख'* प्रथम कहकर जनाया कि कुछ दुःख सहोगे तो आगे बहुत खानेको मिलेगा। लंकासे लौटनेपर फिर खूब अघाकर खानेको मिलेगा। यथा—*'तब मधुबन भीतर सब आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥'* (सुं० २८) और कुछ लोगोंने लिखा है कि यहाँ कन्दादिके खानेका निषेध किया है, पर यह भावार्थ शब्दोंसे प्रसंगानुकूल नहीं है, क्लिष्ट कल्पना है।

श्रीजानकीशरणजी—अ० दी० कार *'तब लगि''''खाई'* पर *'अन जीवन जीवत मृतक उत इत पीवत नीर। भक्षत फल रख चक्षु गहि यह दुख सागर तीर॥'* (३) यह दोहा देते हैं जिसका अर्थ है कि मेरे आये बिना यदि तुम चले जाओगे तो सुग्रीवके हाथसे मारे जाओगे। क्योंकि जो पुरुषार्थहीन है वह जीते ही मृतकके समान है। उसके जीवनको अनजीवन समझो। अतएव यहीं जल पीकर, फल खाकर रहना। इसपर शङ्का होती है कि 'समुद्रतटपर बालू स्थिर नहीं रहती। यहाँ कन्दमूल नहीं होता?' उसपर कहते हैं कि भूख-प्यास जब अधिक लगे तब स्वयंप्रभावाले बिलमें एक-दूसरेकी पूँछ पकड़े हुए प्रवेश करके चले जाना, वहाँ फल-मूल बहुत हैं, खाना और आँख बंद करके निकलना, जो युक्ति वहाँसे निकलनेकी

तपस्विनीने बतायी थी। समुद्र-किनारे दुःख सहना पड़ेगा पर प्राण तो बच जायँगे। भाव यह कि यदि भूख-प्यास सहन न हो सके तब ऐसा करना। (अ० दी० च०)

टिप्पणी—३ *'जब लगि'''* इति। (क) *'जब लगि'* कहा, कोई अवधि न दी, जैसे वालीने सुग्रीवको दी थी कि ***'परिखेसु मोहि एक पखवारा। नहिं आवौं तब जानेसु मारा॥'***; कारण कि अवधि देते तो इतनी अवधिभर राह देखकर सब लोग निराश हो जाते। इससे हनुमान्‌जीकी व्यवहारपटुता और दूरदर्शिता दर्शित होती है। वालीकी अवधिका अनर्थ वे देख ही चुके हैं। (ख) ***'आवौं'*** इति। व्यवहारमें ***'न आवौं'*** ऐसा बोलनेकी रीति है, आजकल ऐसा ही प्रयोग होता है; पर गोस्वामीजीने ***'न'*** निकालकर ***'आवौं'*** ऐसा लिखा। कारण कि संत झूठ नहीं बोलते, यदि हनुमान्‌जीके मुखसे प्रथम यही निकलता कि ***'न आवौं'*** तो वे लौटकर आते कैसे? (इस भावमें ***'जब लगि'*** शब्दका भाव ही जाता रहता है। वास्तवमें ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजीके समयमें ऐसा ही प्रयोग होता था। और उदाहरण ये हैं—***'तब लगि बैठ अहौं बटछाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥'*** (१। ५२। २), ***'तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान।'*** (२। ९६) (ग) ***'सीतहि देखी'*** इति। जबतक श्रीसीताजीकी सुध नहीं मिली थी तबतक ***'सुधि'*** शब्द देते आये। यथा—***'सीता सुधि पूँछेहु सब काहू'*** (४। २३। २), ***इहाँ न सुधि सीता कै पाई।'*** (४। २६। ४), ***'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना॥'*** (४। २६। ९); जब सम्पातीसे सुध मिल गयी कि ***'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।''' सीता बैठि सोचरत अहई॥'*** (४। २८) तबसे ***'देखि'*** शब्द देते हैं। यथा—***'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।'*** (४। ३०), ***'जब लगि आवउँ सीतहि देखी।', 'देखौं चहउँ जानकी माता।'*** (८। ४) इत्यादि। (घ) सम्भव है कि वे संदेह करें कि क्या जानें कि तुम सीताजीको देखकर आओगे या वैसे ही कोरे लौटोगे, उसपर आश्वासन देते हैं कि ***'होइहि काज'''।*** अर्थात् कार्य अवश्य होगा इसमें संदेह नहीं, क्योंकि मेरे मनमें विशेष हर्ष है, यह शुभ शकुन है। (ङ) ['सीता' नाम देनेका भाव कि किष्किन्धासे चलते समय इन सब वानरोंने यही नाम सुना है, यथा—***'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूछेहु सब काहू॥'*** (४। २३। २), ***'बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।'*** (४। २३) यही नाम अंगद और जाम्बवान् तथा सम्पातीसे सुना है, यथा—***'इहाँ न सुधि सीता कै पाई।'*** (४। २६), ***'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।*** (४। ३०) ***'तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता।', 'सीता बैठि सोचरत अहई।'*** (४। २८) इसीसे यही नाम कहा जिसमें सब तुरत समझ जायँ। पुनः भाव कि श्रीसीताजीकी सुध न मिलनेसे सबके हृदय सुग्रीवके भयरूपी तापसे तप्त हो रहे थे; अतएव शीतलताबोधक 'सीता' शब्द देकर जनाया कि इस यात्रासे सबका संताप मिटेगा। (मा० त० सु०)]

नोट—३ बृहस्पति, गर्ग और अङ्गिरा आदिकी संहिताओं तथा ज्योतिषशास्त्रमें हर्षको शुभ शकुन अर्थात् कार्य-सिद्धिका द्योतक कहा है। गर्गाचार्यजी कहते हैं कि सूर्योदयके पूर्व ही प्रस्थान करना प्रशस्त है। बृहस्पतिका मत है कि यात्राके समय शुभ शकुन हो तो बेधड़क चला जाय। अङ्गिराजीका मत है कि जिस समय मनमें उत्साह हो उसी समय चल दे और जनार्दनका मत है कि ब्राह्मणवाक्यसे यात्रा करे तो कार्य सिद्ध होता है। यथा—**'ऊषः प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः। अङ्गिरा मनस उत्साहो विप्रवाक्यं जनार्दनः॥'** यहाँ ब्रह्मावतार जाम्बवान्‌जीके वचन सुनकर हनुमान्‌जीके मनमें बड़ा उत्साह हुआ। भक्तराज जटायुके भाईका आशीर्वाद प्रथम ही हो चुका है—***'पैहहु खोजहु जाहि।'*** (४। २७), ***जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥'*** (४। २९। १) तथा भगवान् कृपानिधान जिनको श्रीहनुमान्‌जी हृदयमें रखकर चले थे—***'हनुमत जन्म सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥'*** (४। २३। १२), उन्होंने इस समय 'विशेष हर्ष' शुभ शकुन हृदयमें उत्पन्न कर दिया। और इस तरह कार्यकी सिद्धि जना दी (रा० ब०, मा० म०)। आगेकी भी अनेक चौपाइयोंसे इनके हृदयका हर्ष प्रकट होता है। ***'आसिष दै सुरसा चली हरषि चले हनुमान', 'नवतुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ'*** इत्यादि २४ चौपाइयोंमें हर्ष शब्द आनेसे यह काण्ड मनके उत्साहको बढ़ानेवाला

और कार्यसिद्धिका सूचक है। (रा० ब०)

☞ वाल्मी० (४। ६७। २७) में श्रीहनुमान्‌जीने वानरोंसे कहा है—'**बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा। अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवंगमाः॥**' मैं बुद्धिसे देख रहा हूँ और मनकी चेष्टा (उत्साह) भी वैसी ही है। मैं श्रीसीताजीको देखूँगा। अब आप सब वानरगण आनन्दित हों।—इसीके अनुसार मानसमें '***होइहि काजु****' कहा है। '**हि**' निश्चयवाचक होता है।

टिप्पणी—४ '***हरष बिसेषी***' इति। विशेष हर्षका भाव कि हर्ष कार्यसिद्धि-सूचक होता है, पर मुझे विशेष हर्ष हो रहा है, इससे निश्चय होता है कि केवल श्रीसीताजीका दर्शन ही नहीं होगा, किन्तु इससे कुछ अधिक कार्य भी होगा। यथा—'***पूँछी कुसल कुसल पद देखी। रामकृपा भा काजु बिसेषी॥***' (२९। ४) ('***बिसेषी***' का अन्वय '***काज***' और '***हरष***' दोनोंके साथ करनेसे यह अर्थ भी निकल आता है। मानसमें यात्राके समय जहाँ-जहाँ हर्ष कहा है, वहाँ-वहाँ कार्यसिद्धि हुई है। जैसे, '***तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा।***' (१। १४३। ३), अतः उनकी '***उर अभिलाष****देखिअ नयन परम प्रभु सोई***' पूरी हुई। '***हरषि चले मुनि भय हरन।***' (१। २०८) अतः '***मारि असुर द्विज निर्भय कारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥***' (१। २१०। ६) यह कार्यसिद्धि हुई। '***धनुषजज्ञ सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥***' (१। २१०। १०) '***हरषि चले मुनिबृंद सहाया।***' (१। २१२। ४) फल हुआ कि '***महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥***' (१। २६५। ५) इसी तरह अन्यत्र भी देख लीजिये। '***हर्ष***' पर कुछ विशेष भाव अरण्यकाण्ड १२ (१) में दिये गये हैं।)

अस* कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥ ४॥

अर्थ—ऐसा कहकर सबको मस्तक नवाकर (प्रणाम करके) हर्षित होकर और श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करके श्रीहनुमान्‌जी चले॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ मन, कर्म और वचन तीनोंसे रामकार्यमें तत्परता दिखायी। '***चलेउ हरषि हिय***' यह मन, '***नाइ सबन्हि कहुँ माथा***' कर्म और '***अस कहि***' यह वचन है। यही सुग्रीवकी आज्ञा भी है, यथा—'***मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु॥***' (४। २३) (ख) '***नाइ सबन्हि कहुँ माथा***' इति। लोग जब भारी कार्य करनेको चलते हैं तब सबको प्रणाम करके चलते हैं, यह शिष्टाचार है। यथा—'***अस कहि चलेउ सबहि सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥***' (१। ८४) (कामदेव शिवसमाधि छुड़ाने चला है),'***बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई॥***' (६। १८) (दूत होकर रावणसे बात करने जा रहे हैं), तथा यहाँ '***नाइ****' अथवा, सब वानर देवता हैं, यथा—'***सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा।***' (६। ११३), '***बानर तन धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ।***' (१। १८७) और सब रामभक्त हैं, ऐसा समझकर सबको प्रणाम किया।

२ (क) '***चलेउ हरषि***' इति। यहाँतक प्रसंगमें हर्षका होना दो बार कहा। एक तो '***होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी***', दूसरे यहाँ '***चलेउ हरषि***' । प्रथम कार्य करनेको सन्नद्ध हुए तब हर्ष हुआ, अथवा श्रीसीताजीके दर्शन होंगे यह समझकर हर्ष हुआ यह '***जब लगि आवौं सीतहि देखी****' से ध्वनित होता है। दूसरी बार श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण करनेका हर्ष हुआ। [(हमारे बड़े भाग्य हैं कि यह सेवा हमें मिली। इस कार्यकी पूर्ति मेरे द्वारा होगी यह समझकर हर्ष है। स्वामीके कार्यमें उत्साह और आनन्द होना ही चाहिये।) अथवा, प्रभुने मुद्रिका देकर इस कार्यको मेरे सुपुर्द किया और जाम्बवान्‌जीने भी मुझे ही इसके योग्य समझकर मुझसे यह काम करनेको कहा; अतएव अपनेको कृतार्थ मान और अपनेमें कार्यसिद्धिकी योग्यता समझकर हर्ष हुआ। (पं०)] ये दोनों हर्ष यात्राके समय, वानरोंसे विदा होकर चलनेके समयके हैं, अतएव कार्यसिद्धिके द्योतक हैं। (ख) '***चलेउ***' से जनाया कि महेन्द्रपर्वत अभी कुछ दूर है। (ग) '***हिय धरि रघुनाथा***' इति। मस्तक नवाना धर्म है, इसी सम्बन्धसे यहाँ 'रघुनाथ' शब्द

* यह—गी० प्रे०।

दिया गया। यह नाम प्रायः धर्मके सम्बन्धमें प्रयुक्त किया गया है। यथा—'*सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम धुरंधर रघुकुलनाथा॥*' (७। ५) स्वामिधर्म सेवकमें भी अवश्य आना चाहिये। [किसी भी कार्यके प्रारम्भमें इष्टदेवका स्मरण, हृदयमें धारण करना उपासकोंका परम धर्म और रीति है। किष्किन्धासे चलनेपर भी कहा है—'*आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥*' '*चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।*' (४। २३)]

शङ्का—किष्किन्धासे चलते समय तो हृदयमें धारण ही किया था अब फिर हृदयमें धरना कैसे कहा?

समाधान—(१) पूर्व '*कृपानिधान*' नामसे हृदयमें बसाया था, अब '*रघुनाथ*' सहेतुक नामसे बसाया। (२) पूर्व किष्किन्धासे यात्रा करते समय बसाया था, अब शत्रुकी पुरीके लिये यात्रा करते हैं अतः अब विशेष सहायताके लिये पुनः बसाया। वा, (३) जिस सम्पातीने श्रीसीताजीका पता बताया था उसने यह आदेश भी दिया था कि '*तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥*' (४। २९) अतः '*हिय धरि रघुनाथा*' कहकर उसके आदेशकी पूर्ति की। वा, (४) पहले जो धारण किया था वह शोकमें भूल गये। प्रमाण यथा—'*डरपे गीध बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना॥*' (४। २७) अतएव भूले हुएको पुनः धारण किया। (मा० त० सु०) वा, (५) '*चलेउ हरषि*' इस पदसे स्वबलके उत्कर्षका अभिमान न हो जाय, इसलिये हृदयमें धारण किया। यथा—'*सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरष हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥*' (३२) (मा० त० सु०) वा, (६) रघुकुलश्रेष्ठ होनेपर भी उनकी स्त्री राक्षसके वशमें '*सोच रत अहई*', यह सम्पातीसे सुन चुके हैं, उनको परवशतासे छुड़ाना '*रघुनाथ*' जीका परम कर्तव्य है और तन, मन, वचनसे सेवा करना हमारा कर्तव्य है, ये विचार श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें आ गये यह '*रघुनाथ*' शब्दसे ध्वनित किया। (प० प० प्र०)

☞ हृदयमें धरना=ध्यान वा स्मरण करना। नहीं तो इनके हृदयरूपी आगारमें तो सदा ही '*बसहिं राम सर चाप धर*'।

सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर*॥५॥
बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी॥६॥

शब्दार्थ—भूधर=भू (पृथिवी) को धारण करनेवाले=पर्वत। कौतुक=लीलापूर्वक, खेलवाड़में, बिना परिश्रम, अनायास। सँभारी=सँभालकर, स्मरण या ध्यान करके। यथा—'*दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥*' (२७। ४) '*संभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावन हन्यो।*' (६। ९४) '*बुधिबल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुत सुत प्रभु संभार्‌यो॥*' (६। ९४) तरकना=उछलना, कूदना, यथा—'*तरकि पवनसुत कर गहेउ आनि धरे प्रभु पास।*' (६। ३१) '*समर बाँकुरा बालिसुत तरकि चढ़ेउ कपि खेल।*' (६। ४२)

अर्थ—समुद्रके तटपर एक सुन्दर पर्वत था। उसके ऊपर हनुमान्‌जी अनायास ही कूद (उछल) कर चढ़ गये॥५॥ बारम्बार रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके अत्यन्त बलवान् पवनपुत्र हनुमान्‌जी उसपरसे कूदे॥ ६॥

टिप्पणी—१ '*एक सुंदर*' इति। यहाँ पर्वतका नाम नहीं दिया, यह भी सहेतुक है। इस विषयमें अनेक मत हैं। आचार्योंने इस पर्वतके अनेक नाम लिखे हैं। मतभेद होनेसे गोस्वामीजीने कोई नाम नहीं दिया जिसमें सभी आचार्योंके मतका समावेश यहाँ हो जाय, सबके मतकी रक्षा हो जाय। इस पर्वतकी सुन्दरता वाल्मीकीयमें विस्तृतरूपसे वर्णित है, उस समग्र वर्णनको 'सुंदर' पदसे जना दिया है सिन्धुको पार करना है; इसीसे समुद्रतटके पर्वतपर चढ़े। [पुनः, '*एक*' से अन्यका अभाव जनाया। अर्थात् यही

* 'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर' ११५९ वाँ भेद, 'कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर' १०६७ वाँ भेद, 'बार बार रघुबीर सँभारी' स्वागता और 'तरकेउ' से 'हनुमाना' तक पायकुलक छन्द हैं।

एक पर्वत हनुमान्‌जीके कूदनेके योग्य था, दूसरा नहीं। (मा० म०)]

नोट—१ ☞ वाल्मीकिजीके मतानुसार यह सुन्दर पर्वत 'महेन्द्राचल' है। यथा—'**कोऽपि लोके न मे वेगं प्लवने धारयिष्यति। एतानीह नगस्यास्य शिलासंकटशालिनः॥ शिखराणि महेन्द्रस्य स्थिराणि च महान्ति च। एषु वेगं गमिष्यामि महेन्द्रशिखरेष्वहम्॥**' (कि० ६७। ३६-३७) अर्थात् कोई पर्वत मेरे वेगको नहीं धारण कर सकता। यह महेन्द्रपर्वत मेरे वेगको सह सकेगा। मैं इसीपरसे कूदूँगा। श्लोक ४० से इस पर्वतकी सुन्दरता कही है कि यह अनेक प्रकारके सदा फूलने-फलनेवाले वृक्षों और लताओं एवं पुष्पोंसे सुशोभित था। सिंह, शार्दूल, मत्त गजराजोंसे युक्त था, सुन्दर बोलीवाले पक्षियोंसे गूँजता था, झरने झर रहे थे, इसपर गन्धर्व स्त्रियोंसहित विहार करते थे। अतएव रामकार्यके उपयोगी एवं शोभन होनेसे '*सुंदर*' कहा।

टिप्पणी—२ '*कौतुक कूदि चढ़ेउ*'''।' इति। (क) '*कौतुक*' पदसे जनाया कि यहाँ बल नहीं लगाया, बल आगे कहेंगे। यथा—'*जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥*' (ख) '*कूदि चढ़ेउ*' इति। जहाँ 'सब 'वानर' थे वहाँसे पर्वत दूर था इससे वहाँ '*चलेउ*' कहा था, अब उसके पास पहुँच गये। अतः अब उसपर उछलकर चढ़ना कहा। पर्वतपर चढ़नेका कारण यह है कि समुद्रको कूदकर लाँघना है, कूदना ऊँचेसे ही बनता है।

टिप्पणी—३ '*बार बार रघुबीर सँभारी*' इति। (क) पूर्व श्रीरघुनाथजीको हृदयमें धारण कर चुके हैं। यथा—'*चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा*'। अब प्रेमके कारण बारम्बार स्मरण करते हैं। इन्होंने प्रभुको बारम्बार स्मरण किया, प्रभु भी इनको बारम्बार स्मरण करेंगे; क्योंकि उनकी रीति है कि '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**।' (गीता) [बार-बार स्मरणके और भाव—कार्य गुरुतर था। निर्विघ्नतापूर्वक कार्य सिद्ध करके शीघ्र ही प्रभुके दर्शनकी इच्छा कर रहे हैं, अतएव पुनः-पुनः स्मरण करते हैं। (मा० त० सु०) पुनः, अनन्य भक्तोंकी यह परिपाटी है कि बार-बार स्मरण करते हैं। '*सोवत जागत सरन तुम्हारी*।' (मा० त० सु०) '*हनुमत जन्म सफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥*' हनुमान्‌जी जब चले तो हृदयमें श्रीरामजीकी मूर्ति रखकर चले थे। सरकार हृदयमें तो आ जाते हैं, परन्तु असावधान होते ही निकल भी जाते हैं, अतः चिन्तकको बहुत सँभाल करना पड़ता है। यहाँ हनुमान्‌जीको समुद्रोल्लङ्घन करना है, इसलिये रङ्कके धनकी भाँति बार-बार सरकारको सँभालते हैं। यथा—'*मन माधव को नेकु निहारहि। सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों पुनि-पुनि प्रभुहिं सँभारहि॥*' (विनय०) (वि० त्रि०)] (ख) '*रघुबीर सँभारी*' का भाव कि वीररूपका स्मरण किया जिससे शत्रुपर विजय प्राप्त होती है। यथा—'*संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो*।' (६। ९४) पुनः, '*रघुबीर*' का स्मरण किया जिसमें हमारी वीरता सिद्ध हो, हम वीरतासे सम्पन्न हो जायँ। समुद्रोल्लङ्घन, राक्षस सुभटोंसे सुरक्षित लङ्कामें प्रवेश आदिमें वीरताका प्रयोजन है। '*रघुबीर*' शब्द वीरतासूचक है। जैसे कि, '*सिय रघुबीर बिबाह*' के रघुवीर-शब्दमें धनुर्भंग आदि वीरताका, '*सरन सुखद रघुबीर*' में शरणागतकी रक्षा रावणसे करनेके योग्य वीरताका भाव अन्तर्गर्भित है। (ग) ☞ [इस चरितसे उपदेश देते हैं कि कैसा ही बलवान् या पुरुषार्थी क्यों न हो पर बिना श्रीरघुवीरके स्मरणके कार्य सिद्ध नहीं होता। देखिये लक्ष्मणजी प्रथम बार जब मेघनादसे युद्ध करने गये तब उन्होंने प्रणाम नहीं किया था, अतः शक्तिसे घायल हुए। दूसरी बार '*जब रघुबीर दीन्ह अनुसासन*' तब '*रघुपति चरन नाइ सिर चलेउ तुरंत अनंत*।' (६। ७४), फल क्या हुआ? जय, मेघनाद-वध। वहाँ श्रीरघुवीरजी समीप थे इससे वहाँ '*नाइ सिर*' कहा और यहाँ परोक्ष हैं, अतः यहाँ '*सँभारी*' कहा। (मा० त० सु०) (घ) श्रीरामजी तो सदा हनुमान्‌जीके '*हृदय आगार*' में '*बसहिं सर चापधर*', सदा ही उनके साथ हैं, बार-बार स्मरण जो प्रभु हृदयमें हैं उन्हींका करते हैं, दूसरेका नहीं। स्मरणके कारण ऊपर लिखे जा चुके हैं।]

टिप्पणी—४ '*तरकेउ पवन तनय बल भारी*' इति। (क) पवनके पुत्र हैं, इसीसे पवनके समान भारी

वेग और बल है। यथा—'*पवन तनय बल पवन समाना।*' (४। ३०) भाव कि भारी बल और भारी वेगसे कूदे (भारी वेग इससे कहा कि वाल्मीकिजी लिखते हैं कि अनेकों बड़े-बड़े वृक्षादि इनके वेगके झोंकेसे उखड़कर इनके पीछे चले)।

नोट—२ इसपर अ० दी० में '*हरी महाबल लखि धरी, गिरि कर गिरितर थाम।*' (४) और मा० म० में '*सो लखि थामे बीर मणि*' इन शब्दोंसे भाव कहा है। अर्थात् महाबलिष्ठ हरिने हनुमान्‌जीके कूदनेपर देखा कि पर्वत नीचे धँस गया, अतएव उन्होंने उस पर्वतको अपने हाथपर सँभाला, थाम लिया। गणपति उपाध्यायजी मा० म० के दोहेका यह अर्थ करते हैं कि 'श्रीरामचन्द्रजीने तर्कना की कि श्रीहनुमान्‌जी बलके भारी हैं, अत: पर्वतको थामा।' पर ये अर्थ खींचतानके हैं। 'सँभारना' और 'तरकना' का प्रयोग ग्रन्थमें बहुत हुआ है। उनका अर्थ स्पष्ट है।

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥ ७॥

अर्थ—जिस पर्वतपर हनुमान्‌जी चरण दे (रख) कर चले वह तुरन्त (तत्क्षण) ही पातालको चला गया॥ ७॥*

टिप्पणी—१ (क) यह भारी बलका स्वरूप है। जब कौतुक ही पर्वतपर चढ़े तब वह पातालको नहीं गया। जब भारी बलसे कूदे तब पातालको चला गया। (ख) '*तुरंता*' से जनाया कि कपिका कूदना और पर्वतका पातालको जाना दोनों एक साथ हुए। (ग) वृक्षपरसे न कूदे क्योंकि वृक्ष इनके बलको न सँभाल सकता। (घ) '*चरन देइ*' से कूदनेकी रीति दिखायी। अर्थात् चरणोंसे गिरिको दबाकर कूदे। यथा—'**जब अंगदादिनकी मति-गति मंद भई, पवनके पूतको न कूदिबेको पलु गो। साहसी ह्वै सैलपर सहसा सकेलि आइ, चितवत चहूँ ओर, औरनि को कलु गो॥ तुलसी रसातलको निकसि सलिलु आयो, कोलु कलमल्यो अहि-कमठको बलु गो। चारिहू चरनके चपेट चाँपें चिपिटि गो, उचकें उचकि चारि अंगुल अचलु गो॥**' (क० कि० १) (ङ) '*तुरंता*' शब्दसे यह भी जना दिया कि ये लङ्का नहीं पहुँचने पाये पर्वत पहले ही पाताल पहुँच गया।

नोट—१ यहाँ शङ्का होती है कि 'जब पैर देते ही वह पातालको चला गया तो कूदे कहाँसे? इसका समाधान उपर्युक्त क० कि० १ से होता है। अ० दी० कार इसका समाधान यह करते हैं कि जब हनुमान्‌जीने पर्वतको बलसे दबाया तब वह पातालको चला। यह देख श्रीरामजीने उसे स्वयं थाम लिया जिससे वे कूद सके। पर्वत धनुषके और हनुमान्‌जी बाणके समान हो गये। श्रीजानकीशरणजीका मत है कि आगेकी चौपाई '*जिमि अमोघ रघुपति के बाना। ताही भाँति चला हनुमाना॥*' से दीपककारकी उक्तिका मेल सुन्दर मालूम होता है। अर्थात् श्रीरामजीने पर्वतरूपी धनुषसे हनुमानरूपी बाणको छोड़ा।—पाठकलोग स्वयं विचार लें।

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही† भाँति चला हनुमाना॥ ८॥

शब्दार्थ—**अमोघ**=निष्फल न होनेवाले, अचूक, खाली न जानेवाले।

अर्थ—जैसे श्रीरघुनाथजीका बाण अमोघ (चलता) है, इसी प्रकार हनुमान्‌जी चले॥ ८॥

टिप्पणी—१ श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुपतिके बाणोंकी उपमा दी; क्योंकि—(क) हनुमान्‌जी रघुपतिके अनन्य उपासक हैं। दूसरे वीरके बाणकी उपमा न देना यह ग्रन्थकारका सँभाल है। पुन:, (ख) और वीरोंके बाण कभी-कभी व्यर्थ हो जाते हैं; पर रघुनाथजीके बाण कभी व्यर्थ नहीं जाते, छूटे कि लक्ष्यको वेधकर ही लौटते हैं। जैसे रामजीके बाण किसीके रोकनेसे नहीं रुकते और अवश्य कार्य करके लौट

---

* किसी-किसीने अर्थ किया है कि 'जिस पर्वतपर चरण देते थे वह पातालको चला जाता था।' पर यह अर्थ ठीक नहीं है। चरण तो न जाने कितने पर्वतोंपर आगे रखना कहा गया है। कोई पातालको नहीं गये। यथा—'सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥' (५। ३। ८) इत्यादि। यहाँ भारी बलसे हनुमान्‌जीका कूदना कहा है, उसके प्रभावसे पर्वत धँस गया। अन्यत्र सामान्य कूदना है।

† तेही—ना० प्र०, ब्र० चं०। एही—भा० दा०, छ०।

आते हैं, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लङ्किनी इत्यादिके रोकनेसे न रुकेंगे, कार्य करके लौट आयेंगे और अति शीघ्र श्रीरघुनाथजीके समीप पुनः आ प्राप्त होंगे। (वाल्मीकीयमें स्वयं श्रीहनुमान्‌जीके वचन इसी आशयके ये हैं—'**यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः॥ गच्छेत्तद्वद् गमिष्यामि लंकां रावणपालिताम्।''''' अनेनैव हि वेगेन गमिष्यामि सुरालयम्''''' सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया॥**' (५। १। ३९—४२) अर्थात् जिस प्रकार राघवका छोड़ा हुआ बाण पवनवेगसे जाता है और पराक्रम करके लौटता है, वैसे ही मैं लङ्कामें जाऊँगा; यदि वहाँ सीताजी न मिलीं तो उसी वेगसे देवलोकमें जाकर ढूँढ़ूँगा। जैसे बनेगा कार्य पूरा करके लौटूँगा।)

टिप्पणी—२ '*एही भाँति चला हनुमाना*' इति। (क) '*एही भाँति*'का भाव कि जो और-और प्रकारकी उपमाएँ अन्य कवियोंने दी हैं, वे यथार्थ नहीं हैं यथार्थ '*एही*' है। (ख) यहाँ हनुमान्‌जीका चलना कहा। 'हनुमान्' नाम देकर जनाया कि ये मार्गसे लङ्कातक बहुतोंका मान-मर्दन करेंगे।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तइँ मैनाक होहि श्रम हारी॥ ९॥

अर्थ—समुद्रने श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुनाथजीका दूत विचारकर (मैनाक पर्वतसे कहा) मैनाक! तू इनका श्रमहारी हो जा। अर्थात् इनको अपने ऊपर विश्राम देकर इनका परिश्रम हर॥ ९॥

टिप्पणी—१ '*जलनिधि*' पदका भाव कि समुद्रने विचार किया कि मैं जलका खजाना (अधिष्ठान) हूँ और ४०० कोसका हूँ। कहीं ये थककर डूब न जायँ। जलमें डूबनेके भयसे श्रम हरनेको कहा। अतः '*जलनिधि*' नाम दिया। '*रघुपति दूत बिचारी*' का भाव कि ये श्रीरघुनाथजीके दूत हैं और मैं रघुपतिके कुलसे उत्पन्न हुआ हूँ, अतः इनकी सहायता करना मेरा कर्तव्य है। यदि मैं सहायता न करूँगा तो सब प्रकारसे निन्दित हो जाऊँगा, कोई मेरा नाम न लेगा। ['**इक्ष्वाकुकुलमानार्थी चिन्तयामास सागरः॥ साहाय्यं वानरेन्द्रस्य यदि नाहं हनूमतः। करिष्यामि भविष्यामि सर्ववाच्यो विवक्षताम्॥ अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः। इक्ष्वाकुसचिवश्चायं तन्नार्हत्यवसादितुम्॥ तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः। शेषं च मयि विश्रान्तः सुखी सोऽतितरिष्यति॥ इति कृत्वा मतिं साध्वीं'''''**।' (वाल्मी० ५। १। ८७—९१) वाल्मीकीयके इस उद्धरणको '*रघुपति दूत बिचारी*' से सूचित किया है। इस विचारका उपक्रम '**चिन्तयामास**' है और उपसंहार '**इति कृत्वा मतिम्**' पर है। बीचमें विचार है। अर्थात् 'इक्ष्वाकुकुलके प्रति सम्मान रखनेवाले सागरने इस प्रकार विचार किया कि वानरेन्द्र हनुमान्‌की यदि मैं इस समय सहायता न करूँ तो सब लोग मुझे भला-बुरा कहेंगे। इक्ष्वाकुनाथ सगरमहाराजने मुझे बढ़ाया है और यह इक्ष्वाकुवंशीय श्रीरामचन्द्रजीका सचिव है। अतएव इसको कष्ट नहीं होना चाहिये। मुझे ऐसा करना चाहिये जिससे यह वानर विश्राम कर ले। विश्राम करनेके अनन्तर यह शेष मार्ग सुखसे तै कर सकेगा। ऐसा सुन्दर विचार करके—'गोस्वामीजीने केवल अन्तिम शब्द '*बिचारी*' ले लिया। इस तरह वे हनुमान्‌जीका वेग शब्दोंसे दिखा रहे हैं]।

टिप्पणी—२ '*तइँ मैनाक होहि श्रम हारी*' इति। [(क) मैनाक हिमाचलका पुत्र माना जाता है। यह स्वर्णमय है। इसने हनुमान्‌जीसे अपना वृत्तान्त यों कहा है—'पहले सत्ययुगमें पर्वत पक्षयुक्त होते थे और सब दिशाओंमें गरुड़की तरह उड़ा करते थे। उनके उड़नेसे देवता, मुनि और मनुष्य सभी उनके गिरनेके भयसे भयभीत रहा करते थे। अतएव इन्द्रने हज़ारों पर्वतोंके पक्ष वज्रसे काट डाले और मेरे पास भी आये। उस समय आपके पिता महात्मा पवनदेवने मेरी सहायता की। मुझे शीघ्र ही अपने वेगसे उड़ाकर समुद्रमें लाकर छिपा दिया।' (वाल्मी० ५। १। ११५—११९) यह पातालके विशाल द्वारको रोके रहता था। इसे चारों दिशाओंमें बढ़नेका सामर्थ्य है। (श्लोक ९०—९२)] (ख) '*तइँ मैनाक होहि श्रम हारी*'—समुद्रके इस कथनका भाव यह है कि मैनाक पक्षधारी पर्वत है और वानर स्वाभाविक ही पर्वतपर विहार करते हैं। अतएव यदि यह बढ़ जाय तो वे स्वाभाविक ही इसपर ठहरकर अपना श्रम निवारण करेंगे अथवा, (ग) भाव यह है कि 'तुमपर पवनका ऋण है। पवनने तुम्हारा उपकार किया है कि इन्द्रके वज्रसे बचाकर तुमको यहाँ लाकर हमारे जलमें छिपा दिया। तुम भी उनके पुत्रका उपकार करके उनसे उऋण हो जाओ।' (वाल्मीकीय ५। १। १२१—१२७) में जो मैनाकके वाक्य हनुमान्‌जीके प्रति हैं

उनसे भी यही आशय निकलता है। यथा—'**पूजिते त्वयि धर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः। तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम्॥**''''' **ततोऽहं मानयामि त्वां मान्योऽसि मम मारुते। त्वयां ममैष सम्बन्धः कपिमुख्य महागुणः॥**' अर्थात् आपकी पूजासे वायुकी पूजा हो जाती है, अतः आप मेरे पूजनीय हैं; इसका कारण सुनिये।''''इसीलिये मैं आपका सम्मान कर रहा हूँ। आप मुझपर और समुद्रपर कृपा करके मेरी पूजा स्वीकार करें।)

नोट—१ मैनाकसे ही क्यों कहा? क्योंकि उसके भीतर जितने जलचर हैं वे कोई आकाशगामी नहीं हैं और न यह सामर्थ्य ही किसीमें है कि हनुमान्‌जीको सँभाल सके। इस समय श्रीहनुमान्‌जी बहुत ऊपर आकाशमें हैं और मैनाक पक्षधारी है तथा शीघ्र उनतक पहुँच सकता है। दूसरे, उसपर पवनका ऋण है, उनसे उऋण होनेकी इच्छा उसे अवश्य होगी।

टिप्पणी—३ शङ्का—'जलनिधि श्रीरामजीके पास न आया और उनके दूतको विश्राम देना चाहता है, यह क्यों?' समाधान—(क) अयोध्याकाण्डमें दिखाया है कि श्रीरामजीसे रामभक्तका मार्ग अधिक सुखदायी हुआ। यथा—'*किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥*' (२१६) वैसा ही यहाँ जानिये। (ख) हनुमान्‌जीके पराक्रमको देख रहा है, इससे विश्राम देता है, और श्रीरघुनन्दनजीने तो परम माधुर्यमय वचन कहे हैं, जिससे उसे उनकी ईश्वरतामें भ्रम हो गया, इसीसे उनके पास न आया। परन्तु जैसे ही उनका पराक्रम देखा वैसे ही डरा हुआ आया। (ग) समुद्रके दो तट हैं। दोनोंपर एक-एक शत्रु है। दक्षिण तटपर रावण है जिसे मारनेको तो रामजी जाते ही हैं और उत्तर तटपर साठ हजार आभीर (जो चोर हैं) वास करते हैं। उनके वधका उपाय विचारकर न आया कि जिसमें श्रीरामजी रोषपूर्वक बाणका अनुसन्धान करें तब बाण छोड़नेके पहले ही, मेरे शरणमें जा प्राप्त होनेसे, उसी बाणसे मैं उन सबका वध करा सकूँगा। इस चतुराईसे प्रथम ही न आ गया। क्योंकि वह जानता है कि श्रीरघुपतिका बाण अमोघ है, धनुषपर चढ़नेपर फिर व्यर्थ नहीं जायगा।

☞ पर्वतोंके बढ़नेका वैज्ञानिक रहस्य—कल्पके आरम्भमें अर्थात् इस वर्तमान श्वेतवाराह कल्पके उदय होनेके पूर्व उषःकालमें अबसे २ करोड़ ४४ लाख वर्ष पहले, इस धरतीकी अत्यन्त उत्तप्त दशा थी। अग्निके उत्तप्त सागरके मन्थनसे चन्द्रमाका पिण्ड धरतीसे अलग हो चुका था। उस समय भी पत्थर और कच्ची धातुएँ कुछ वायव्य और अधिकांश द्रव और अर्धघन दशामें थी। उस समय विशाल पर्वत तरलरूपमें जलती हुई वायुके झोंकोंसे इधर-उधर उड़ते फिरते थे। लाखों वर्षतक यही अवस्था रही। परन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था और धरतीका ताप घटता जाता था त्यों-त्यों वायुमण्डलमेंसे वायव्य धातुओं और पत्थरोंका द्रव जलरूपमें जमकर बरसता जाता था और यह द्रव भी जमकर ठोस होता जाता था। जब पृथ्वी १२०० दर्जेतक ठण्डी हुई तब उसके ऊपरी तलका चिप्पड़ ठोस और अचल हो गया और पहाड़ भी स्थान-स्थानपर अचल हो गये। फिर भी भूगर्भके भीतर बड़वानलसे उत्तप्त पहाड़ 'चल' रह गये, जो अबतक कहीं-कहीं धरतीपर और अत्यधिक महासागरोंके भीतर ज्वालामुखके रूपमें मौजूद हैं। आज भी इनके चलनेसे भूकम्प हो जाता है और धरती फट जाया करती है, कितने टापू डूब जाते हैं और कितने नये निकल आते हैं। अभीतक वैज्ञानिक खोजियोंने भूकम्पके किसी नियमका पता नहीं लगा पाया है कि वह उसके सम्बन्धमें कोई भविष्यवाद कर सकें। यह चलनेवाले पहाड़ या भूगर्भका बड़वानल अपनी मरजीसे जब चाहे उपद्रव खड़ा कर देते हैं। इन्द्र मेघोंके राजा हैं और वर्षाके देवता हैं। पुराणोंमें लिखा है कि इन्द्रने पहाड़ोंके पर काट दिये। इससे पहले सभी पहाड़ उड़ते थे। पवन देवताने मैनाकको ले जाकर समुद्रमें छिपाया इससे इसके पङ्ख बाकी रह गये। मैनाककी कथा पिछले त्रेतायुगकी है, जिसको कम-से-कम १५-१६ लाख वर्ष हो गये होंगे। परन्तु पर्वतोंके पङ्खोंके काटे जानेकी कथा उससे अत्यन्त पूर्वकी है। कोई सवा दो करोड़ वर्षकी। (गौड़जी)

दो०—*हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
रामकाजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥ १॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने उसे हाथसे स्पर्श किया, फिर उसको प्रणाम किया और कहा कि श्रीरामचन्द्रजीका काम पूरा किये बिना मुझे विश्राम कहाँ?॥ १॥

टिप्पणी—१ मैनाकने मनुष्यरूप धरकर बातें कीं। यथा—'**मानुषं धारयन् रूपमात्मनः शिखरे स्थितः। दुष्करं कृतवान् कर्म त्वमिदं वानरोत्तम॥ निपत्य मम शृङ्गेषु सुखं विश्रम्य गम्यताम्।**' (वाल्मी० ५। १। १११-११२) अर्थात् मनुष्यरूप धरकर अपने शिखरपर बैठकर बोला कि मेरे शिखरोंपर आकर विश्राम कर लीजिये, आपने बड़ा दुष्कर कार्य किया है। श्रीहनुमान्‌जीने हाथसे स्पर्श करके मैनाकका सम्मान किया और उसे इन्द्रसे अभय कर दिया। वाल्मीकीयमें यह कथा है कि इन्द्रने स्वयं आकर मैनाकसे कहा कि 'हनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेसे हम तुमपर प्रसन्न हुए। अब हमसे तुमको भय नहीं है।' यथा—'**देवताश्चाभवन् हृष्टास्तत्रस्थास्तस्य कर्मणा। काञ्चनस्य सनाभस्य सहस्राक्षश्च वासवः॥ उवाच वचनं धीमान् परितोषात्सगद्गदम्। सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः॥ हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्॥ अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम्॥**' (५। १। १३७—१३९)

टिप्पणी—२-'*हनूमान तेहि परसा कर ·····*' इति। पहले हाथसे स्पर्शकर सम्मान किया; यथा—'***करसरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल अनुग्रह करेऊ॥***' और मैनाक देवता है तथा हनुमान्‌जीके पिताका मित्र है। अतः उसे बड़ा जानकर पूज्यदृष्टिसे प्रणाम किया (प्रणाम विदा होनेका है। प्रणाम करके चल दिये)।

नोट—१ '*हनूमान तेहि परसा कर*' इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मैनाकने अपना परिचय और पवनका अपने ऊपर उपकार बताकर हनुमान्‌जीसे प्रेमसे दिया हुआ अतिथि-सत्कार और विश्राम स्वीकार करनेको कहा। तब श्रीहनुमान्‌जी बोले—'**प्रीतोऽस्मि कृतमातिथ्यं मन्युरेषोऽपनीयताम्॥ त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्तते। प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा॥**' (५। १। १३०-१३१) अर्थात् मैं बहुत प्रसन्न हूँ। आपने अतिथिसत्कार किया। मेरे न ठहरनेसे आप बुरा न मानें। मुझे कार्यकी बड़ी त्वरा है, दिन बीत रहा है। मैंने रास्तेमें न ठहरनेकी प्रतिज्ञा की है। ऐसा कहकर हाथसे पर्वतको छुआ। '*तेहि कर परसा*' के पूर्व उपर्युक्त वार्ताका अध्याहार कर लेना चाहिये। किस हाथसे परसा यह वाल्मी०, अ० रा०, आ० रा० में भी नहीं बताया है, पर सम्मान दाहिने हाथसे ही किया जाता है, इसको दक्षिण हाथ समझना चाहिये।

आ० रा० सार० ९ में यह भी लिखा है कि जब हनुमान्‌जीने विश्राम करना स्वीकार नहीं किया तब मैनाकने पुनः-पुनः प्रार्थना की कि अपने स्पर्शसे ही मुझे पवित्र कीजिये। इसपर श्रीहनुमान्‌जीने हाथके अग्रभागसे उसके शिखरको स्पर्श किया। यथा—'**विश्रामः स्वामिकार्येऽत्र न करोम्यन्नभक्षणम्। मैनाकस्तं पुनः प्राह स्वस्पर्शात् पावयस्व माम्॥ तथेति स्पृष्टशिखरः कराग्रेण ययौ कपिः।**' (११-१२) इसका भी अध्याहार '***परसा कर***' के पूर्व कर लेना चाहिये।

नोट—२ यहाँ '***रघुपति दूत बिचारी***' के बाद एकदम '***तइँ मैनाक होहि श्रम हारी***' कहा और मैनाकका श्रीहनुमान्‌जीतक जाना, उनसे फलादि खाने और कुछ देर विश्राम कर लेने तथा श्रीहनुमान्‌जीका विश्राम करना स्वीकार न करनेकी बात न कहकर केवल '***हनूमान तेहि·····बिश्राम***' इतने शब्दोंसे सारी कथा कही गयी। इससे कवि हनुमान्‌जीका वेग दिखा रहे हैं। समुद्र वेगको देख रहा है, मैनाकको संकेतसे ही सब कह दिया। '***तइँ मैनाक होहि श्रम हारी***' इतना कहते समयमें ही हनुमान्‌जी आधी दूर पहुँच गये। मैनाकका

---

* इस दोहेके पूर्व 'सिन्धु बचन उर आनि तुरत उठेउ मैनाक तब। कपि कहुँ कीन्ह प्रनाम पुलकित तनु कर जोरि कर॥' यह सोरठा काशी और ना० प्र० में है। अन्य प्राचीन प्रतियोंमें नहीं है।

यह दोहा १२-११ मात्राओंके विश्रामसे है। इसीसे इसके पहले और तीसरे चरणमें एक मात्राकी कमी जान पड़ती है। ब्र० चं० इसे दोहरा कहते हैं।

भी वेग दिखाया कि इतना सुनते ही वह हनुमान्‌जीके निकट पहुँच गया। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'यहाँ मैनाकसे कहा, मैनाकने हनुमान्‌जीसे क्या कहा इत्यादि सब शब्द अध्याहृत रखनेमें भाव यह है कि इतने शब्द लिखनेमें जितना समय व्यतीत हो जाता उतनेमें हनुमान्‌जी मैनाकको छोड़कर आगे बढ़ जाते और तब विचारसे भी उनका अनुगमन करना अशक्य हो जाता। इतना संक्षेप और इतना अध्याहार मानसमें है। अन्यत्र कहीं भी नहीं है।'

नोट—३ (क) *'रामकाज कीन्हे'''''बिश्राम।'*—अर्थात् श्रीरामजीका कार्य सिद्ध करके ही विश्राम लूँगा, पहले नहीं। इस वाक्यसे स्पष्ट है कि मैनाकने विश्राम करनेको कहा था। अ० रा० में इस प्रकार कहा है—**'गच्छतो रामकार्यार्थं'''''विश्रामो वा कथं मे स्याद् गन्तव्यं त्वरितं मया॥'** (५। १। ३३) उपर्युक्त वाल्मी०, अ० रा०, आ० रा० से मिलान कीजिये। देखिये मानसके वाक्यमें कितना लालित्य है। पढ़ते ही चित्त द्रवित हो जाता है। (ख) *'कहाँ बिश्राम'* से यह भी जनाया कि मुझे श्रम ही नहीं हुआ जो मैं विश्राम करूँ।

टिप्पणी—३ समुद्रके आज्ञा देनेके साथ ही मैनाक तुरन्त हनुमान्‌जीके पास पहुँच गया। इसी शीघ्रताको दिखलानेके लिये मैनाकका चलना और पहुँचना नहीं कहा। केवल हनुमान्‌जीका हाथसे स्पर्श करना कहा। इतनी शीघ्रता करनेपर भी हनुमान्‌जी ५० योजन समुद्र पार कर गये थे। समुद्रके बीचमें मैनाकसे भेंट हुई। मैनाक समुद्रके बीचमें रहता है। इस प्रसङ्गसे यह भी दिखाया कि रामभक्तको जलमें भी ठहरनेका स्थल मिल जाता है और हरिविमुख थलमें भी डूब मरते हैं, जैसे कर्णका रथ पृथ्वीमें ही डूब गया। समुद्रने इनके श्रम हरनेकी इच्छा की, ये उसके मनोरथको भविष्यमें पूरा करेंगे जब *'रामकाज'* कर चुकेंगे, यथा—*'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।' 'राम काज कीन्हे बिनु'* से यहाँ यह बात सूचित कर दी है कि कार्य करके विश्राम लेंगे। मैनाकको प्रेरित करना यह समुद्रका उपकार है।

नोट—४ कोई-कोई मैनाकका प्रणाम करना कहते हैं। पर *'पुनि'* उपर्युक्त अर्थका साधक है। *'कर'* दीपदेहली है। (प्र०)

नोट—५ *'रामकाज कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'* इति। मैनाकपर हाथ फेरकर हनुमान्‌जीने उसका सन्तोष किया और कृतज्ञता प्रकट की। फिर प्रणामकर प्रतीकार करके वे बोले कि *'रामकाज कीन्हे बिनु'''''*'।

☞ हमको इससे कैसे महत्त्वकी शिक्षा मिलती है। जिस कार्यको उठाया उसे पूरा किये बिना दम लेना कैसा? कैसा भी प्रलोभन आगे आये, पर क्या मजाल कि वह चित्तकी वृत्तिको विमोहित कर सके! मनस्वी और कार्यार्थी पुरुषोंका चरित्र ऐसा ही होता है। उनमें स्वामिकार्यमें तत्पर सेवकोंका धर्म जैसा होना चाहिये उसके श्रीहनुमान्‌जी महाराज परम आदर्श हैं। उस आदर्शके सम्मुख मैनाकका क्षुद्र प्रलोभन क्या कर सकता है, श्रीरामदूतके चरितपर विशेष ध्यान देना चाहिये। हमको उनके चरित्रसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग किसी महत्कार्यको करना चाहते हैं और जिन्हें किसी कर्तव्य-पथपर पैर रखना है, वे हमारे परम इष्टदेव भगवान् मारुतिके दौतकार्यको सम्यक् प्रकारसे अध्ययन और मनन करें।

परमार्थ-मार्गमें भी यह शिक्षा है। जब कोई मनुष्य परमार्थ-मार्गपर आरूढ़ होने लगता है तब प्रथम उसके सम्बन्धी प्रेमके नातेसे विघ्न डालते हैं, जैसे मैनाकने हनुमान्‌जीके पिता पवनदेवके उपकारको मानकर अपना प्रेमका सम्बन्ध जनाकर उनसे विश्राम कर लेनेको कहा था। ऐसे ही परमार्थपथारूढ़को अपने ध्येयसे किसी सुहृद्‌के कहनेसे भी कदापि न डिगना चाहिये।

जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥ १॥
सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहि बाता॥ २॥

अर्थ—देवताओंने पवनसुत हनुमान्‌जीको जाते हुए देखा। उनके विशेष बल और बुद्धिको विशेष जाननेके लिये॥ १॥ उन्होंने सुरसा नामकी सर्पोंकी माताको (बल-बुद्धिकी परीक्षाके लिये) भेजा। उसने आकर हनुमान्‌जीसे यह बात कही॥ २॥

टिप्पणी—१ *'जात·····'* इति। ज्यों ही हनुमान्‌जी चले त्यों ही समुद्रने मैनाकको और देवताओंने सुरसाको भेजा, नहीं तो यदि किंचित् भी विलम्ब हो जाता तो ये पार पहुँच जाते। *'जात'* शब्दसे पाया गया कि देवता इसी पार हैं। स्वर्गमें बैठे हुए भी देवता ऐसा ही प्रयोग करेंगे। आवश्यक नहीं है कि वे समुद्र-तटपर देखने आते। वे वहींसे देख रहे हैं। (प० प० प्र०) *'पवनसुत'* पदसे जनाया कि पवनके समान बल और वेगसे जा रहे हैं। यथा—*'चला प्रभंजन सुत बल भारी।'* (६। ५५) *'देवन्ह'* बहुवचन है। इससे जनाया कि परीक्षा लेनेमें सब देवोंका सम्मत है। (वाल्मी० ५। १। १४४ में '**ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः**' जो कहा है वही यहाँ *'देवन्ह'* से सूचित कर दिया है। सबका आपसमें विचारना अ० रा० ५। १ के '**परीक्षणार्थं सत्त्वस्य वानरस्येदमब्रुवन्।**····· **एवं विचार्य**·····॥' (९-१०) इससे स्पष्ट है। विचार आगे नोट १ में दिये हैं।)

टिप्पणी—२ *'जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा'* इति। बल-बुद्धि जाननेका भाव यह है कि इन्हीं दोनोंसे शत्रु जीता जाता है। यथा—*'नाथ बैरु कीजै ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों॥'* (६। ६), *'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु।'* (५। १७) 'विशेष' का भाव यह है कि उनके 'सामान्य' बल-बुद्धिको तो देवता पहलेसे ही जानते हैं, जाम्बवान्‌के मुखसे सुन चुके हैं। यथा—*'पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्याननिधाना॥'* और जन्मसमय आँखोंसे भी देख चुके हैं। उन्होंने सूर्यको ग्रास कर लिया और इन्द्रके वज्रको भी सह गये, यथा—*'जयति जय बालकपि केलि-कौतुक उदित चंडकर-मंडल-ग्रासकर्त्ता। राहु-रबि-सक्र पवि-गर्व-खर्बीकर शरण भयहरण जय भुवन-भर्त्ता॥'* (वि० २५) पर इस समय हनुमान्‌जी उन राक्षसोंके यहाँ जा रहे हैं जो इन्द्र, सूर्य आदि देवताओंको भी जीत चुके हैं। अतः उनके विशेष बल और बुद्धिको देखना चाहते हैं, जिससे विश्वास हो कि वे मेघनाद-रावणादि प्रबल शत्रुओंसे अपना अपमान न कराकर लौटेंगे। (पं०) कूदना, छलाँग मारना आदि तो वानरोंके स्वाभाविक धर्म हैं। यह विशेषता नहीं देखना चाहते, प्रत्युत बल-बुद्धिकी विशेषता देखना चाहते हैं। [पुनः, विशेष परीक्षा इससे चाहते हैं कि पवन भी तो रावणसे डरता है, तब ये तो उनके पुत्र ही हैं। (प्र०) मा० त० सु० कार लिखते हैं कि 'यहाँ *'देवन्ह'* पद देकर गोस्वामीजीने सब देवताओंको परम अल्पज्ञ सूचित किया। क्योंकि रघुनाथजी बारम्बार इन्हें निर्भय होनेको कह चुके हैं। *'निर्भय होहु देव समुदाई'*, *'निसिचरहीन करउँ महि'*। हनुमान्‌जीको मुद्रिका दी, इनके सिरपर हाथ फेरा, इनका अवतार भी रामकार्यके लिये ही हुआ, इनके बलको भी वे जानते हैं, बालपनका बल देखा है और अब तो वे युवावस्थाको प्राप्त हैं फिर भी परीक्षा ले रहे हैं।']

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जी वायुवेगसे जा रहे हैं, किन्तु पता नहीं कि वे लङ्कामें घुस सकेंगे या नहीं। इसका पता लगानेके लिये उनके बल और बुद्धिकी परीक्षाके लिये देवताओंका सुरसाको भेजना अध्यात्मरामायणमें भी कहा है। यथा—'**गच्छत्येष महासत्त्वो वानरो वायुविक्रमः॥ लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा जानीमहे बलम्। एवं विचार्य नागानां मातरं सुरसाभिधाम्॥**····· **गच्छ त्वं वानरेन्द्रस्य किञ्चिद्विघ्नं समाचर॥ ज्ञात्वा तस्य बलं बुद्धिं पुनरेहि त्वरान्विता॥**' (५। १। ९—१२) इस उद्धरणमें केवल 'बल-बुद्धि'का जानना कहा है। मानसमें जो *'बिसेषा'* शब्द है वह '**लङ्कां प्रवेष्टुं शक्तो वा न वा**' का भाव दे रहा है। वाल्मीकीयमें परीक्षाकी विधि भी देवताओंने बतायी है कि राक्षसका भयानक और पर्वतके समान विशाल रूप बनाओ, जिसमें बड़े-बड़े दाँत, पीली-पीली आँखें और आकाश छूनेवाला लम्बा-चौड़ा मुँह हो। हम लोग जानना चाहते हैं कि वे किसी उपाय द्वारा तुम्हें जीतते हैं या किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। यथा—'**राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्वतोपमम्। दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभःस्पृशम्॥ बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम्। त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति॥**' (५। १। १४६—१४८)—ये सब भाव *'जानै कहुँ·····पठइन्हि'* से सूचित कर दिये गये।

टिप्पणी—३ *'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि·····'* इति। सुरसाको परीक्षा लेनेके लिये, भेजनेके भाव (क) देवता हनुमान्‌जीके 'बल-बुद्धि' को न जान सके और न परीक्षा ले सके, इससे उन्होंने स्त्रीको

भेजा। स्त्री अवध्य है। (ख) राक्षस बली और मायावी होते हैं और सुरसामें भी बल और माया दोनों हैं। अतएव सुरसाको भेजा। (ग) हनुमान्‌जीको *'पवनसुत'* कहकर सुरसाको *'अहिन्ह कै माता'* कहनेसे इसमें परीक्षा लेनेकी योग्यता दिखायी है। सुरसा हनुमान्‌जीको ग्रास कर सकती है, क्योंकि सर्पोंका आहार पवन है। (घ) देवताओंने विचारा कि यदि हम परीक्षा लेने जायेंगे तो हनुमान्‌जी अपना विघ्न मानकर कदाचित् दण्ड दे दें, अत: स्त्रीको भेजा, जैसे सुग्रीवने ताराको भेजा था। यथा—*'सुनु हनुमंत संग लै तारा* ·····'। (कि०)। (ङ) सर्पिणीको अपने पुत्रपर भी दया नहीं होती। अत: इसे भेजा कि यह निर्दय होकर परीक्षा लेगी। (च) हनुमान्‌जी ब्रह्मचारी हैं, अत: स्त्रीको भेजा। (प० प० प्र०)

टिप्पणी-४—(क) यहाँ *'सुरसा'* और *'अहिन्ह कै माता'* दोनों कहे। इसका एक कारण तो हो चुका। दूसरा कारण यह है कि 'सुरसा' में अतिव्याप्ति है। इससे औरके नामका सन्देह होता, अत: अहिनकी माता कहा। पुन: यदि अहिनकी माता ही कहते तो भी सन्देह होता। क्योंकि कद्रू भी सर्पोंकी माता है। अत: दोनों कहा। अहिनकी माता कहकर जनाया कि भयानक है, क्रूरस्वभाव है और तमोगुणकी मूर्ति है। (ख) *'पठइन्हि आइ'* इति। यहाँ सुरसाका चलना और पहुँचना नहीं कहा। इससे शीघ्रता दिखलायी। वह बहुत जल्द आयी, क्योंकि हनुमान्‌जी रामबाणके समान जा रहे हैं। जबतक मैनाकसे वार्ता हुई तबतक यह आ गयी।

सुरसा—दक्षप्रजापतिकी आठ कन्याएँ अदिति, दिति, दनु, कालिका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला कश्यपजीको ब्याही गयीं। इनमेंसे ताम्राके क्रौंची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी पाँच कन्याएँ हुईं। इनमेंसे शुकीके नता नामकी कन्या हुई और नताकी कन्या विनता हुई। विनताके दो पुत्र अरुण और गरुड़ और दो कन्याएँ सुरसा और कद्रू हुईं। कद्रू नागोंकी माता हुई। इस तरह सुरसा गरुड़की बहिन है।—**'विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा॥'''द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च॥'** (वाल्मी० ३। १४। ३१-३२) यह मत वाल्मीकीयका है। महाभारत आदिपर्वमें कद्रू और विनताको कश्यपजीकी स्त्रियाँ कहा है। मानसमें भी दोनोंको सौतें कहा है—*'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख''''* (२। १९) सुरसाको कहीं-कहीं एक सहस्र सर्पोंकी माता कहा है। वाल्मीकीयमें इनको नागमाता और दाक्षायणी कहा है। यथा—**'अब्रुवन्सूर्यसंकाशां सुरसां नागमातरम्।' 'प्रविष्टोऽस्मि हि ते वक्त्रं दाक्षायणि नमोऽस्तु ते।'** (वाल्मी० ५। १। १४४, १६९) यह सूर्यके समान बड़ी तेजस्विनी थी। यह स्वेच्छानुसार रूप धारण कर सकती थी। देवताओंने इससे भयानक पर्वताकार राक्षसीका रूप धारण करके परीक्षा करनेको कहा था। राक्षसी बनकर यह हनुमान्‌जीके सामने राह रोककर खड़ी हो गयी और कहा कि ब्रह्माका मुझे वरदान है कि कोई मुझे लाँघकर नहीं जा सकेगा। देवताओंने तुम्हें मेरा भक्ष्य किया है। अतएव यदि तुम जाना चाहते हो तो मेरे मुखमें प्रवेश करके ही जा सकते हो—**'अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम्॥' 'निविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम। वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा॥'** वाल्मी० ५। १। १५०, १५८)

नोट—२ *'जात पवनसुत'* पदसे *'अहिन्ह कै माता'* तक 'पायकुलक' छन्द है। *'पठइन्हि'* तामरस छन्द है। (ब्र० चं०)

नोट—३ आनन्द और अध्यात्मरामायणोंमें प्रथम सुरसाका मिलना पाया जाता है, तब मैनाकका आतिथ्य। यहाँ मानसमें प्रथम मैनाकका आगमन है, तब सुरसाका। कविकी उक्तिके अनुसार इस भेदका कारण *'कल्पभेद हरिचरित सुहाये'* है। साहित्यिक दृष्टिसे इस भेदमें भी चरित्र-चित्रण-चारुताकी झलक है। मैनाक समुद्रमें रहता है, अतएव उसका प्रथम ही आना उचित है। वह विश्राम देनेको आता है पर इसमें भी परीक्षाका अनुमान हो सकता है कि देखें कि ये रामकार्यमें कहाँतक तत्पर हैं। विश्रामकी चाह करते है या नहीं। *'रामकाज लवलीन मन'* का यहाँ चरितार्थ है। जब लङ्काके निकट आते हैं तब देवता सुरसाद्वारा परीक्षा लेते हैं। उसके बाद सिंहिका मिलती है, जो लङ्काकी रक्षा लङ्कातटके निकट समुद्रमें रहकर करती है। इसीसे इसको मारनेपर समुद्र पार हो जाता है। लङ्कामें पहुँचते ही द्वारपर लङ्किनी टोकती है। यह क्रम

स्वाभाविक है। विघ्नोंका एक साथ क्रमसे होना ही विशेष स्वाभाविक है। वाल्मीकीयमें मैनाकके पश्चात् सुरसा आती है। पर उसमें लंकिनीका प्रसंग नहीं है।

नोट—४ *'आइ कही तेहि बाता'*—बात ही क्यों कही, पहलेसे खानेको क्यों न दौड़ी? कारण कि वे वेगसे जा रहे हैं। उन्हें परीक्षाके लिये रोकना है, बात सुनकर रुकेंगे। दूसरे यदि प्रथम ही खानेको दौड़ती तो वे राक्षसी जानकर मार डालते अथवा युद्ध छिड़ जाता। बल-बुद्धिकी परीक्षामात्र लेना है, युद्ध नहीं करना है और युद्धमें उनसे जीतना सम्भव नहीं है। देवताओंने आहार दिया है यह सुनकर वे उसका सम्मान करेंगे। मा० त० सु० का मत है कि बातसे ही परीक्षा प्रारम्भ की; क्योंकि बातचीतसे अन्तःकरणका आशय लक्षित हो जाता है।

आजु सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवनकुमारा॥ ३॥

अर्थ—आज देवताओंने मुझे भोजन दिया है। यह वचन सुनते ही पवनकुमार हनुमान्‌जीने कहा॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'आजु'* से जनाया कि बहुत दिनोंसे भोजन नहीं मिला था, आज प्राप्त हुआ। यथा—*'आजु सबन्ह कहँ भक्षन करऊँ। दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ॥ कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥'* (कि० २७) (ख) 'अहार' शब्दसे यह सूचित किया कि सुरसा राक्षसी बनकर आयी है। क्योंकि राक्षस जीवोंको पकड़कर खाते हैं। यथा—*'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं'*, *'नर कपि भालु अहार हमारा'*। (ग) देवताओंके भेजनेसे आयी; इसीसे 'सुरन्ह' का आहार देना कहा। अभी परीक्षा लेनेके लिये भेजना नहीं कहा, पीछे परीक्षा हो जानेपर कहेगी। यथा—*'मोहिं सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुद्धि बल मरमु तोर मैं पावा॥'* यदि परीक्षाकी बात पहले ही कह देती तो ठीक परीक्षा न मिलती। क्योंकि वे जान जाते कि वह परीक्षाके लिये मुँह फैला रही है, हमको खायेगी नहीं (मा० तु० सु० का मत है कि 'सुरन्ह' बहुवचन शब्द देकर जनाती है कि समस्त देवताओंने सहमत होकर यह भक्ष्य दिया है। इस तरह अपनेको निर्दोष जनाया। साथ ही यह भी जनाया कि जिनके कार्यके लिये तुम उद्यत हो वे ही तुम्हारे बाधक हैं, अतः प्रथम दैवकृत बाधा मिटानेका उपाय सोच लो तब असुरकृत बाधाका निवारण करने योग्य होगे। तुम निःशङ्क चले जा रहे हो, पहले यह विचार लो कि जब देवता ही ऐसा व्यवहार कर रहे हैं तब निशिचरगण तो उनसे कहीं अधिक बली और मायावी हैं वे क्या न करेंगे? *'अहारा'* में यह भी भाव है कि अन्य वस्तुके देनेमें पात्रका विचार भी करना पड़ता है, परन्तु आहार देनेमें विचार नहीं किया जाता। अतिथि सर्वदा पूजनीय है)।

शङ्का—देवता झूठ नहीं बोलते, सुरसा देवी है, वह झूठ क्यों बोली कि *'सुरन्ह मोहिं दीन्ह अहारा'?*

समाधान—(क) सुरसा स्त्री है। स्त्री-स्वभावसे झूठ बोली। यथा—*'नारि सुभाव सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥'* (६। १६) जैसे सतीजी झूठ बोलीं कि *'कछु न परीछा लीन्ह गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं॥'* (१। ५६) वा, परोपकार-साधनमें झूठ बोलना दोष नहीं है। (पं० रा० कु०) वा, परीक्षार्थ होनेसे असत्य नहीं है। (मा० त० सु०) वाल्मीकीयमें इस चरणके जोड़का श्लोक यह है, **'मम भक्षः प्रदिष्टस्त्वमीश्वरैर्वानरर्षभ॥ अहं त्वां भक्षयिष्यामि प्रविशेदं ममाननम्॥'** (५। १। १५०) (ख) भगवती सुरसा हनुमान्‌जीकी परीक्षा लेने आयी है। 'आज देवताओंने मुझे आहार दिया' यह कहकर उसने युद्धका रास्ता रोक दिया। देवताओंने आज्ञा दी है, इसलिये भक्ष्य बनो। पहले ही बुद्धिकी परीक्षा सामने आयी। परीक्षामें जो धोखा दिया जाता है, उसकी गणना असत्यमें नहीं है, क्योंकि उससे भावोपहनन नहीं होता। और भावोपहनन ही (पाप) है, यथा—**तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेद विधिर्न कल्कः। प्रसह्यवित्ताहरणं न कल्कः तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥** (महाभारत १। १। २७१) अभिनयमें सब झूठ ही कहा और किया जाता है, पर वह कल्क नहीं है, क्योंकि भावोपहत नहीं है। यहाँ यह कहना ठीक नहीं कि सुरसा स्त्री-स्वभावसे झूठ बोली। यह कोई नियम नहीं है, स्त्री झूठ ही बोले। रावणका वचन प्रमाणरूपसे सर्वत्र ग्रहण नहीं किया जा सकता। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ *'सुनत बचन कह पवन कुमारा'* इति। सुरसाके वचनका उत्तर देना कठिन है। सुरसा कहती है कि देवताओंने मुझे 'आहार' दिया। आहारको वह खानेको तैयार है। हनुमान्‌जी धर्मात्मा हैं। देवताओंके दिये हुए भक्ष्य हैं, तो नहीं कैसे करें? यथा—*'परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहि तेही॥'* (बा० ८४) और यदि शरीर खानेको दिये देते हैं तो रामकार्य नहीं बन सकता। दोनों तरहसे उत्तर देना कठिन है। ऐसे असमंजसके समय भी आपको उत्तरमें कुछ कठिनाई न हुई, आप तुरंत बोले। अतः 'पवनकुमार' कहा। तात्पर्य कि वचन पवनकी ही प्रेरणासे निकलते हैं और ये पवनकुमार ही हैं तब क्यों न तुरंत उत्तर देते? वचन सुनते ही बोले, इन्हें जरा भी विचार न करना पड़ा, यह बुद्धि है।

रामकाजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ* सुधि प्रभुहि सुनावौं॥ ४॥
तब तुव† बदन पइठिहौं‡ आई। सत्य कहौं मोहि जान दे माई॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामजीका कार्य करके मैं लौट आऊँ और सीताजीका समाचार प्रभुको सुना दूँ॥ ४॥ तब आकर मैं तेरे मुखमें पैठूँगा, (प्रवेश करूँगा, अर्थात् तब मुझे खा लेना) मैं सच कहता हूँ। हे माई! अभी मुझे जाने दो॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जीको रामकार्य होनेका निश्चय है। यथा—*'होइहि काजु मोहि हरषु बिसेषी।'* इसीसे कहा कि *'करि फिरि मैं आवौं।'* जाम्बवान्‌का वचन है कि *'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।'* इसीसे कहा कि *'सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं।'* तात्पर्य यह कि सीताजीको देखकर समाचार सुना देना यही 'रामकाज' है। मुझे इतना अवकाश दो। रामकार्य करनेपर मुखमें पैठना हो सकता है, पर प्रथम मुखमें पैठनेसे रामकार्य नहीं हो सकता, अतएव प्रथम 'रामकाज' करना कहा। क्षुधार्त्तको भोजन देना साधारण धर्म है और रामकार्य परमधर्म है; अतएव इसे प्रथम करना कहा। (ख) सुरसाने कहा था कि *'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।'* इसपर हनुमान्‌जी कहते हैं कि देवताओंने तुम्हारा उपकार किया कि तुमको आहार दिया। तुम देवताओंका उपकार करो। रामकार्य होनेसे देवताओंका उपकार है। पीछे तुम्हारा भी उपकार होगा। हम आकर तुम्हारे मुखमें पैठेंगे। (ग) [*'रामकाज करि'''* में यह भी भाव है कि तुम श्रीरामजीके राज्यमें रहनेवाली हो, अतएव तुम्हें भी इस कार्यमें मेरी सहायता करनी चाहिये। यथा—**'तस्याः सकाशं दूतोऽहं गमिष्ये रामशासनात्। कर्तुमर्हसि रामस्य साह्यं विषयवासिनी॥'** (वाल्मी० ५। १। १५४) (घ) *'सीता'* शब्दका भाव कि श्रीराम-लक्ष्मण-सुग्रीवादि सब बिना सुध मिले सन्तप्त हैं, उनको सुध पाकर सब शीतल होंगे। (पाँ०)] (ङ) *'प्रभुहि सुनावौं'* का भाव कि प्रभु समर्थ हैं, वे अपने बलसे शत्रुको मारकर सीताको प्राप्त करेंगे। यथा—*'कपि सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहि आनिहैं'* (कि०)।

टिप्पणी—२ *'तब तुव बदन पइठिहौं आई'* इति। (क) *'बदन पइठिहौं'* से जाना गया कि सुरसाने हनुमान्‌जीसे अपने मुखमें प्रवेश करनेको कहा था। इसीसे बदनमें पैठनेको कहा। यह न कहा कि हम तुम्हारा भक्ष्य होंगे। तुम हमें भक्षण करना, क्योंकि हनुमान्‌जी सत्यवादी हैं। यथा—*'सत्य कहौं'।* वैसा कहनेसे वचन झूठ होता, क्योंकि इनको कोई भक्षण नहीं कर सकता। (ख) *'तब पइठिहौं आई'* से पाया गया कि कदाचित् अपने प्राण बचानेके लिये हमें धोखा दे रहे हैं। अतएव उसकी प्रतीतिके लिये *'सत्य कहौं'* कहा, अर्थात् हम धोखा नहीं दे रहे हैं। यथा—*'रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥'* पुनः, यथा—*'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा॥'* (ग) *'रामकाजु करि'* से बल जाना गया अर्थात् बलवान् हैं यह जाना। महर्षि कश्यपकी स्त्री जानकर *'माई'* कहा। सन्त पर-स्त्रीको माता जानते ही हैं। यथा—*'जननी सम जानहिं पर नारी।'* इससे *'माई'* कहा। *'तब तुव बदन'* यह बुद्धि है। (पं०) *'आई'* से जनाया कि तू यहीं रह, मैं यहीं लौटकर आता हूँ।

शङ्का—कार्यमें विघ्न जानकर इसपर कोप क्यों नहीं किया?

* कै। †तव—गी० प्रे०। ‡ पैठिहौं—(ना० प्र०)।

समाधान—(क) हनुमान्‌जीने विचार किया कि एक तो वह क्षुधार्त्त है, दूसरे देवताओंकी भेजी हुई है; इसपर कोप करनेसे देहदानमें कृपणता सूचित होगी। दो० २ (६) देखिये। (ख) यह स्त्री है और दीन वचन कह रही है; इसपर कोप करना उचित नहीं। (ग) जान गये कि यह बुद्धि-बल जानने आयी है; अतः क्षमासे अपनी बुद्धि दिखायी। (पं०) यह बात आगे सिंहिकाके प्रसङ्गसे सिद्ध होती है। यथा—'***तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा***'। तथा, यहाँ इसके भावको भी हनुमान्‌जी जान गये। इसीसे सिंहिकाको तो मारा और सुरसासे दीन वचन बोले। (घ) कुपित हो जाते तो सन्देह होता कि रामकार्य कैसे कर सकेंगे? वहाँ रावणको कैसे समझाते? सबसे लड़ते ही रह जाते?

नोट—१ अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—'**गच्छामि जानकीं द्रष्टुं पुनरागम्य सत्वरः। रामाय कुशलं तस्याः कथयित्वा त्वदाननम्॥ निवेक्ष्ये""॥**' (५। १। १५-१६) '***काजु करि***' और '***फिरि आवौं***' को एक ही चरणमें देकर '**पुनरागम्य सत्वरः**' का भाव जना दिया। अर्थात् कार्यमें देर न लगेगी, मैं शीघ्र कार्य करके लौटूँगा। श्लोकका उत्तरार्ध चौपाईके दूसरे चरणमें है। अ० रा० में शपथ नहीं है। वाल्मी० ५। १। १५५में शपथ भी है। यथा—'**अथवा मैथिलीं दृष्ट्वा रामं चाक्लिष्टकारिणम्। आगमिष्यामि ते वक्त्रं सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥**'

इन चौपाइयोंसे कितनी बड़ी निर्भयता और किस ऊँचे दर्जेके आत्मोत्सर्गका परिचय मिलता है। स्वामीका इष्टकार्य हो जाना चाहिये, फिर चाहे शरीर रहे या न रहे। कार्यार्थी लोगोंका ध्यान अपने उद्देश्यपर रहता है। जिस प्रकार लक्ष्यवेधी लोग, निशानेबाज अपने लक्ष्यके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते, उसमें तन्मय हो जाते हैं, उसी प्रकार साधककी दृष्टि अपने कार्य और साध्यहीपर रहा करती है। वे और किसी बातकी चिन्ता नहीं करते। किसी सांसारिक बाधाका भय नहीं करते। कोई उन्हें पागल कहता है तो कोई व्यर्थका आडम्बर करनेवाला कहता है। पर वे इन बातोंपर कुछ भी ध्यान न देकर अपनी ही धुनमें मस्त और व्यस्त रहते हैं। कुछ कालके अनन्तर जब वे अपने काम कर चुकते हैं, तब संसार उनके कार्यके महत्त्वको आप ही समझता है।

कवनेहु जतन देइ नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना॥ ६॥

अर्थ—(सुरसा) किसी भी यत्नसे जाने नहीं देती। (तब) श्रीहनुमान्‌जीने कहा, (तो फिर) मुझे खा न ले! (खा क्यों नहीं लेती? अर्थात् मैं देखूँ तो कि तू मुझे कैसे खाये लेती है?)॥ ६॥

नोट—१ '***कवनेहु जतन***' इति। इन शब्दोंसे पाया जाता है कि बहुत-से यत्न किये, पर यहाँ तो रामकार्य करके श्रीसीताजीका समाचार सुनाना, यही एक यत्न लिखा है। और कौन-से यत्न किये? पं० रामकुमारजीका मत है कि—(क) नीतियाँ चार हैं। साम, दाम (दान), दण्ड और भेद। इनमेंसे श्रीहनुमान्‌जी प्रथम दाननीति काममें लाये। यथा—'***तव तुव बदन पइठिहौं आई***'। बदनमें पैठना शरीरका दान है। फिर सामनीति बरते। यथा—'***सत्य कहौं मोहि जान दे माई***'। '***माई***' कहना साम है। मातासे दण्ड या भेद न करना चाहिये। अतएव इनको नहीं बरता। प्रथम रामकार्य होना, दूसरे सीताजीका क्लेश छूटना, तीसरे देवताओंका उपकार होना, चौथे साम और दान यही अनेक यत्न हैं। यहाँ दान मुख्य है। वह ग्रास चाहती है, इसीसे प्रथम दान कहा। अथवा, (ख) '***कवनेहु***' से जनाया कि अनेक मुनियोंने अनेक रामायणें गायी हैं। जिस-जिसने जो-जो यत्न लिखे हैं उन सबोंका ग्रहण करनेके लिये यहाँ '***कवनेहु जतन***' पद दिया।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि वे अनेक यत्न ये हैं—(क) प्रथम 'राम' नाम लिया, यह सोचकर कि श्रीरामजी चराचरनाथ हैं, उनका काम सुनकर यह विघ्न न करेगी। फिर (ख) यह सोचकर कि यह स्त्री है और स्त्रियाँ स्त्रीका दुःख देख या सुनकर दुःखी हो जाती हैं '***सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावौं।***' यह कहा। (ग) सम्भव है कि वह सोचे कि ये आवें या न आवें अथवा आवें भी तो अस्त्र-शस्त्र धारण करके आवें। अभी छलसे बचना चाहते हैं। अतएव '***तुव बदन पइठिहौं आई***' कहा। अर्थात् हम आकर तुम्हारे मुँहमें पैठेंगे, तुम हमें खा लेना, तुम्हें कोई परिश्रम न पड़ेगा। (घ) फिर सोचे कि कोई अपने-

से-अपने प्राण नहीं देता, ऐसा समझकर झूठ मानती होगी। अतएव कहा कि *'सत्य कहौं'।* (ङ) फिर सोचे कि पुत्र सबको प्रिय होता है। अतः पुत्र बने, उसे माता बनाया। *'जान दे माई'* कहा।

नोट—२ *'मोहि जान दे माई'* ये शब्द बड़े ही करुणावाचक हैं। हनुमान्‌जीके सब वचनोंमें यत्न भरे हैं, पर इनमें तो हद है। *'मोहि जान दे'* अर्थात् अपनी ओरसे मुझे इतने कार्यभरके लिये प्राणका दान दे। यह शरीर तेरा हो चुका। पर रामकार्यभरके लिये दान चाहता हूँ, फिर तो तेरे मुँहमें पैठूँगा ही। कैसी दीनता है? *'माई'* सम्बोधनसे जनाया कि माता-पुत्र-भावसे वह अवश्य दयार्द्र होकर जाने देगी। *'सीता कइ सुधि'* में यह युक्ति है कि स्त्री स्त्रीकी विपत्तिमें सहायक होनेकी बात सुनकर दया करेगी। जब न माना तब कुपित होकर *'ग्रससि न'* कहा। ये शब्द श्लेषार्थी हैं। 'न' निश्चय और निषेध दोनों अर्थ दे रहा है। 'नहीं जाने देती तो ग्रास क्यों नहीं कर लेती?' और 'ग्रसना चाहती है, यह न होगा'। *'ग्रससि न मोहि'* ये वचन क्रोधके हैं। यथा—**'एवमुक्तः सुरसया क्रुद्धो वानरपुङ्गवः। अब्रवीत्कुरु वै वक्त्रं येन मां विषहिष्यसि॥'** (वाल्मी० ५। १। १५९-१६०) वाल्मी० तथा अ० रा० के वाक्योंसे *'ग्रससि न मोहि'* ये वचन कितने जोरदार हैं, पाठक स्वयं देख लें। इसमें अपने बलपर कैसा आत्मविश्वास दिखायी दे रहा है।

टिप्पणी—१ (क) *'कवनेहु जतन देइ नहिं जाना'* यहाँतक बुद्धि है और *'ग्रससि न मोहि'* यह बल है। [बाबा हरिदासजी *'ग्रससि न मोहि'* तक बुद्धिसे काम लेना कहते हैं। आगे मुँह फैलानेपर बल दिखाना है।] (ख) जबतक यत्नसे कार्य हो सके तबतक बल न करे, यह नीति है। यथा—*'जो मधु मरै न मारिऐ माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारे परसुधर हारि जिते रघुराउ॥'* (दोहावली ४३३) अतएव प्रथम यत्न किया, पीछे बल। (ग) श्रीहनुमान्‌जीने उसे *'माई'* कहा तब भी वह नहीं छोड़ती, नहीं जाने देती। इसका कारण यह है कि सर्पिणी अपने ही अण्डे-बच्चोंको खा जाती है। तब इनको कैसे छोड़े?

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा॥ ७॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ॥ ८॥

अर्थ—उसने योजन (चार कोस) भरका मुख फैलाया, तब कपि (श्रीहनुमान्‌जी) ने अपने शरीरको उसका दुगुना विस्तृत कर दिया ('अर्थात् दो योजनके हो गये, जिसमें उनके मुखमें अँट ही न सकें) ॥ ७॥ उस (सुरसा) ने सोलह योजनका मुख किया तब पवनपुत्र तुरन्त ही बत्तीस योजनके हो गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा'* इति। (क) इससे ज्ञात हुआ कि उनका शरीर एक योजनके भीतर ही था। (ख) *'बदन पसारा'* अर्थात् फैलायाभर, खानेको नहीं दौड़ी। यथा—*'करि चिक्कार घोर अति धावा। बदन पसारि''''।'* (कुम्भकर्ण, लं० ६९); क्योंकि परीक्षा लेने आयी है, खाने नहीं आयी। (ग) शरीरको दुगुना विस्तृत करनेका भाव कि ले तू खाने आयी है तो हम भी तुझे दुगुना भक्ष्य देते हैं।

टिप्पणी—२ *'सोरह जोजन'* इति। (क) शङ्का कपितन दो योजनका था तो सुरसाको चार योजनका मुख करना था। जब वे आठके होते तब यह सोलहका करती। अभी एकदमसे सोलहका क्यों कर लिया?

समाधान—इससे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जीका स्वरूप देखकर वह घबड़ा गयी। क्रमभङ्गसे उसका घबड़ाना और हनुमान्‌जीका सावधान रहना सूचित किया। 'ठयऊ'=किया। यथा—*'एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।'* (बा० १३३ (२) देखिये)। (ख) *'तुरत'* अर्थात् सुरसाके सोलह योजन होनेके साथ ही तत्क्षण ये बत्तीस हुए, इसीसे शीघ्रतासूचक *'पवनसुत'* नाम दिया।

टिप्पणी—३ (क) सुरसा भक्षण करनेपर तत्पर है, अतः उसके मुखहीकी प्रधानता दरसायी गयी। और हनुमान्‌जी उसको पराभव करनेपर तत्पर हैं, अतः उनके सम्पूर्ण शरीरका विस्तार दिखाया। (ख) एक योजनके बाद सोलह योजन कर लेनेका तात्पर्य यह है कि सुरसाने इनको अपनेसे दुगुना बढ़ा देखकर सोचा कि इनकी इतनी ही सामर्थ्य और शीघ्रता है या अधिक! यही निश्चय करनेके लिये सावधानतासे उसने सोलह योजनका मुख बनाया। (मा० त० सु०)

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा*॥ ९॥

अर्थ—जैसे-जैसे सुरसाने मुख बढ़ाया (वैसे ही वैसे) कपिने उसका दुगुना रूप दिखाया॥ ९॥

टिप्पणी—जब सुरसाने मुख योजनभरका किया तब इन्होंने दो योजनका रूप कर लिया। जब उसने सोलह योजनका मुख किया तब इन्होंने बत्तीस योजनका रूप दिखाया। सुरसाके बदन बढ़ानेमें कोई नियम नहीं है, कभी कम बढ़ाती है कभी अधिक; इसीसे उसके सम्बन्धमें *'जस जस'''* कहा। हनुमान्‌जीके बढ़ानेमें नियम है कि उसके मुखसे दुगुना ही बड़ा रूप दिखाते हैं। अतएव इनके सम्बन्धमें *तासु दून'''* कहा। आगे दुगुना रूप बढ़ानेकी समाई (गुंजाइश) नहीं है। क्योंकि बत्तीस योजनके हनुमान्‌जी हैं, जब सुरसा चौंसठ योजनका मुख फैलावेगी तब ये एक सौ अट्ठाईसके होंगे सो यह बात ठीक नहीं बनती। क्योंकि इस क्रमसे वे उसके शतयोजनमुख होनेके पूर्व ही उससे अधिक बढ़े जाते हैं यह सम्भव नहीं। तो फिर *'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा'* यह चौपाई सिद्ध नहीं होती? इससे यह जान पड़ता है कि यहाँ दूसरे रामायणोंका मत दिया है। अर्थात् सुरसाका मुख एक योजनका हुआ तब हनुमान्‌जी दो योजनके हुए, जब वह दो योजनकी हुई तब ये चार, जब वह आठ तब ये सोलह इत्यादि। *'रूप देखावा'* से जनाया कि केवल उसे दिखानेमात्रको इतना बड़ा रूप कर लेते हैं, उसे मारना नहीं चाहते। यह बल है।

वि० त्रि०—यहाँपर कविने यह दिखलाया कि सुरसाके बदन पसारनेमें कोई क्रम नहीं है और हनुमान्‌जीके शरीर-विस्तारमें दुगुने होनेका क्रम है। सुरसाने एक योजन मुख पसारा तो हनुमान्‌जी दो योजनके हो गये, उसने सोलह योजनका मुख किया तो ये बत्तीस योजनके हो गये। यहाँ दिव्य बलसिद्धिकी परीक्षा हो रही है। दोनों अपनी-अपनी महिमासिद्धि दिखला रहे हैं। यदि मान लिया जाय कि तीसरी बार सुरसाने चालीस योजन मुँह फैलाया, तो हनुमान्‌जी अस्सी योजनके हो गये। यहाँ तीनों बारके सिद्धिप्रदर्शनको लक्ष्य करके *'जस जस'* शब्दका प्रयोग किया है।

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥ १०॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। माँगा बिदा ताहि सिरु नावा†॥ ११॥

अर्थ—(जब) उसने (सुरसाने) सौ योजनका मुख किया, तब पवनसुतने अत्यन्त छोटा रूप कर लिया॥ १०॥ वे उसके मुखमें घुसकर (अति शीघ्रतासे) फिर बाहर निकल आये और उसको मस्तक नवाकर बिदा माँगी॥ ११॥

टिप्पणी—१ *'सत जोजन तेहि आनन कीन्हा'''* इति (क) सौ योजन मुख करनेका भाव कि सौ योजनका समुद्र है, समुद्रभरमें उसीका रूप देख पड़ा। एक डाढ़ नीचे किये है और एक सौ योजनके ऊपर (यहाँ सुरसाके मुखकी वृद्धि उत्तर-दक्षिणमें नहीं है किन्तु अधः-ऊर्ध्व-भागमें है। यह वृद्धि देवमाया भी हो सकती है)। (ख) एक बार मुखका 'पसारना' लिखकर फिर 'करना' और 'बढ़ाना' लिखनेका भाव यह है कि मुख तो फैलाये ही रही पर बढ़ाती गयी। सौ योजनका मुख सुरसाके बढ़ावकी अवधि है, वैसे ही इधर हनुमान्‌जीका *'अति लघु रूप'* सूक्ष्मताकी अवधि है। उसने अत्यन्त बड़ा मुख किया और इन्होंने अत्यन्त लघु रूप लिया।‡ (ग) *'पवनसुत'* नामसे ही अतिशीघ्र अति लघुरूप हो जाना जनाया। हनुमान्‌जीने दुगुना रूप होकर सुरसाको न जीता। ☞इसमें यह उपदेश है कि बड़ेको छोटा होकर जीते। (घ) बहुत शीघ्र अति लघुरूप धारण किया, यह बुद्धि है।

---

* 'तासु दून कपि रूप देखावा' 'स्वागता' छन्दका भेद है। (ब्र० चं०)

† 'सत जोजन'''लीन्हा' पायकुलक है, 'बदन पइठि पुनि बाहेर आवा' द्रुतपा है और 'माँगा बिदा' से 'बुधि बल मरमु तोर मैं पावा।' तक पायकुलक हैं। (ब्रजचंद्र कवि)

‡ मा० त० सु०—१ 'अतिलघुरूप' का भाव यह है कि मेरे शरीरकी वृद्धिको तो जान गयी, अब कुछ और विलक्षणता दिखाते हुए इसे पराजितकर अपने कार्यमें उद्यत हो जाऊँ, व्यर्थ समय क्यों खोऊँ? २ बिदा माँगनेका भाव कि तेरी परीक्षा पूरी हो गयी या अभी और कुछ बाकी है? 'सिर नावा' उसको लज्जित करनेके लिये।

टिप्पणी—२ *'बदन पइठि पुनि बाहेर आवा।'* इति। हनुमान्‌जीने पूर्व *'बदन पैठिहौं आई'* कहा था और सुरसाने भी मुखमें पैठनेको कहा था। अतएव उसके मुखमें प्रवेश करके अपने वचनको सत्य किया और उसके वचनको प्रमाण किया (अ० रा० में अँगूठेके बराबर छोटा रूप बना लेना लिखा है)। मानसमें मसकको अति लघु रूप माना है—*'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं''''॥ 'मसक समान रूप कपि धरी'।*

वि० त्रि०—सुरसाका ध्यान केवल मुखको अधिक फैलाकर हनुमान्‌जीको ग्रास कर लेनेपर है, इधर हनुमान्‌जीका ध्यान आरम्भसे ही उसके मुखमें प्रवेश करके सकुशल बाहर निकल आनेपर है, जिसमें देवताओंकी बात रह जाय। अतः जब उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि सुरसाको सौ योजन मुख फैलाना पड़ा, और देख लिया कि अब इसके बन्द करनेमें कुछ समय लगेगा, तो हनुमान्‌जी (**बुद्धिमतां वरिष्ठम्**) ने एकाएक लघिमासिद्धि दिखलायी। एकदम छोटे होकर उसके मुखमें प्रवेश भी किया और बाहर भी निकल आये, सुरसा देवी उन्हें मुखमें रोक न सकीं। जबतक वह इतना बड़ा मुख सङ्कुचित करे तबतक तो हनुमान्‌जी बाहर आ गये। हनुमान्‌जीकी जीत हो गयी।

टिप्पणी—३ *'माँगा बिदा''''* इति। (क) यह प्रणाम बिदा होनेके लिये नहीं है। क्योंकि ये पराक्रमी हैं, इनमें अपने पुरुषार्थका बल है। नीतिके अनुकूल बातोंसे छोड़नेको कहा, किन्तु जीतनेपर सिर नवाया कि जो आज्ञा आपकी थी वह मैं कर चुका, अब हमें जानेकी आज्ञा हो। (ख) नीतिके अनुकूल छोड़नेकी बातें कहनेका भाव यह है कि प्रथम उसको माई कह चुके हैं, अन्तमें यहाँ उसी माता-भावसे प्रणाम किया, आदिसे अन्ततक माता-भाव निबाहा। इसीपर सुरसाने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। (ग) **'पुनि'** शब्दसे जनाया कि जिधरसे घुसे उधरसे ही बाहर निकले।

नोट—१ ☞ मिलानका श्लोक—**'प्रविश्य वदनं तस्याः पुनरेत्य पुरः स्थितः। प्रविष्टो निर्गतोऽहं ते वदनं देवि ते नमः॥'** (अ० रा० ५। १। २२) **'पुनरेत्य पुरः स्थितः'** से स्पष्ट हुआ कि मुखहीके द्वारा बाहर निकले। प० प० प्र० का मत है कि कर्णछिद्रसे निकले।

यह घटना हमको सिखलाती है कि यदि अपने इष्ट-कार्य-पथपर कोई बाधा मिले तो उससे प्रथम तो बचना ही चाहिये, पर यदि वह पीछा करती है तो साहसपूर्वक उसका सामना करना चाहिये और किसी युक्तिसे शीघ्र उससे छुटकारा पानेकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा न करनेसे उद्देश्यके साधनमें विलम्ब होगा। केवल बल ही सब कुछ नहीं कर लेता; उसके साधन बुद्धि और नीतिकी भी आवश्यकता पड़ती है।

नोट—२ सुरसा-प्रसङ्गपर श्रीलमगोड़ाजीने अपने 'नाटकीय महाकाव्य रामायण'-सम्बन्धी लेखमें जो लिखा है उसे संक्षिप्तरूपमें हम पाठकोंके सामने रखते हैं—'महाकाव्यकलाके कविको हमारी कल्पनाशक्तिको ऐसा बनाना पड़ता है कि वह रबड़की तरह घट-बढ़ सके; इसीसे मिल्टनने देव-दानव जगत्‌के मूलसिद्धान्त 'पैराडाइज लास्ट' के प्रारम्भमें ही दे दिये हैं, जैसे कि वे जो रूप चाहें धारण कर सकते हैं, उनमें लिङ्गभेद भी स्थायी नहीं होता। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामायणके प्रारम्भमें ही राक्षसोंको कामरूप धारण करनेवाला बताया है और वानरोंके लिये भी लिखा है कि वे भी वैसे ही कामरूपधारी देवता थे, अब लङ्का और लङ्काकाण्ड आनेवाला है; इसलिये हमारी कल्पनाशक्तिको विशेष सहायताकी आवश्यकता है, जिसमें ओज-गुणका पूरा विकास हो सके । ऐसी अवस्थामें जैसे मिल्टनने शैतानोंके पञ्चायतघरका दृश्य बाँधा है कि पहले सब शैतान विशालकाय थे तब जगह न थी, परन्तु जब उनके राजाने आज्ञा दी कि प्रधान-प्रधान दानवोंके अतिरिक्त सभी दानव लघुरूप धारण कर लें, जिसमें बाहर खड़ी हुई दानव जनता भीतर आ सके। तब कुछ इने-गिने दानवोंको छोड़ शेष सबने लघुरूप धारण कर लिया और सारी जनता उतनी ही जगहमें समा गयी, प्रत्युत जगह बच रही।

इसी प्रकार सुरसाके प्रसङ्गकी युक्ति समझिये। हम इस प्रसङ्गको देख ही रहे हैं, अतः विस्तारकी आवश्यकता नहीं है।

'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा'—२ (९)—

गौड़जी—हनुमान्‌जीको योगसाधनसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं, इसलिये सुरसाके सामने उन्होंने जरूरत पड़नेपर अपने शरीरको जितना चाहा बड़ा कर लिया और जैसा चाहा छोटा बना लिया। परन्तु जो सर्पों और व्यालोंकी माता थी वह अपने मुखको इच्छानुसार छोटा और बड़ा कर सकती थी। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'योगसाधनवाला' चाहे अणिमा और महिमा सिद्धिके द्वारा ऐसा कर भी ले परन्तु यह कैसे माना जाय कि कोई स्थूल शरीरधारी प्राणी इस तरह अपने शरीरको घटा-बढ़ा सकेगा? फिर यह भी प्रश्न हो सकता है कि 'इस तरहके विशालकाय प्राणी जैसी सुरसा थी या जैसे हनुमान्‌जी समझे जाते हैं मानना स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि वर्तमान संसारमें तो ऐसे बन्दर नहीं देखे जाते जो ऐसे बलवान् हों, विद्वान् हों, योगी हों और राजनीतिके पण्डित हों। यह तो क्या ऐसा कोई वानर जो मनुष्यसे बातचीत कर सके देखा और जाना नहीं गया, फिर १० सिर २० भुजाओंवाला राक्षस तो क्या किसी तरहका कोई प्राणी नहीं देखा जाता।' वर्तमान कालमें प्रकृतिमें रामायणमें वर्णन किये हुए वानर, राक्षस या देवता कुछ भी नहीं मिलते, इसीलिये आजकलके विचारक कहते हैं कि रामायणमें यह सब बातें अस्वाभाविक पायी जाती हैं। इस स्थलपर हम इन्हीं आपत्तियोंपर विचार करेंगे।

रामायणकी कथा आजसे कम-से-कम १५-१६ लाख वर्ष पूर्वकी है। वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि इस पृथ्वीपर एक लाख वर्ष पूर्व आजकलके-से मनुष्य मौजूद नहीं थे क्योंकि न तो उस समयकी अवस्था उनकी रायमें मानव-जीवनके अनुकूल थी और न उसके इतने पुराने चिह्न ही मिलते हैं; परन्तु साथ ही उनका यह भी अनुमान है कि जब इस भूतलपर मनुष्य न थे तब यहाँ बड़े-बड़े दानव और व्याल विचरते थे, जो बीस-बीस हाथ ऊँचे और पचास-साठ हाथतक लम्बे थे। इनके शरीर बहुत कम ठोस होते थे, प्रायः दब और लचीले होते थे। इनका पता भी वैज्ञानिकोंको इसलिये मिला कि इनकी ठठरियाँ मिलती हैं। परन्तु जिन प्राणियोंके शरीरमें दृढ़ और ठोस ठठरियाँ न थीं उनका पता कैसे लग सकता है? उस समयके प्राणियोंके लिये अनुमानमात्र किया जाता है। जब दो लाख वर्ष पूर्व ऐसे विचित्र शरीरधारी प्राणी थे तो १५-१६ लाख वर्ष पूर्व तो इससे भी अधिक और अद्भुत विशालकाय प्राणी हो सकते हैं। इसके सिवा यह भी सम्भव है कि जैसे दो लाख वर्ष पूर्वके दानवाकार प्राणियोंका बहुत कम चिह्न बाकी रह गया है और उनकी जातिका तो नाश हो चुका है, वैसे ही १५-१६ लाख वर्ष पूर्वके राक्षसों, असुरों, वानरों, किन्नरों आदि प्राणियोंकी जातियाँ भी कभी भी उच्छिन्न हो चुकी होंगी और उनका अब कोई चिह्न नहीं मिल सकता। कथाके इतने पुरानेपनपर विचार करनेसे वैज्ञानिकदृष्टिसे तो रामायणका कोई पात्र या उसकी क्रिया अस्वाभाविक या अनहोनी नहीं समझी जा सकती। इसलिये हम तो मानते हैं कि मनुष्योंका मांस खानेवाले भीमकाय राक्षस, मनुष्योंके बराबरकी संस्कृति और विकास रखनेवाले और उसी तरहका आचरण करनेवाले, बिना अग्निसे पकाये हुए फल-शाकाहारी विशालकाय वानर-जातिके प्राणी और उसी तरहके भालू उस समय इस धरतीपर रहते थे। यह लोग मनुष्योंसे बराबरीका सम्बन्ध रखते थे, वैसी ही भाषा बोलते थे और अच्छे आचरण रखते थे। वानर और भालू-जातिके विकासकी वह चरम सीमा थे। उनकी जातिमें उससे अधिक विकास नहीं हो सकता था। इसलिये यह जातियाँ लाख-दो-लाख वर्षमें बिलकुल नष्ट हो गयीं और उनके अत्यन्त पूर्वके रूपके लोग पशुरूपमें अर्थात् वर्तमान वानर-भालूके रूपमें रह गये हैं। उसी तरह राक्षसोंकी जाति भी रावणके साथ-साथ अपने विकास और उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँच चुकी थी। इसीलिये वह भी रावणके बाद लाख-दो-लाख वर्षके आगे ठहर न सकीं, उच्छिन्न हो गयीं। महाभारतके हिडिम्ब आदि राक्षस इस जातिके अवशेषमात्र हैं। रामायणमें जहाँ राक्षसोंकी असंख्य सेना है वहाँ महाभारतमें अकेला घटोत्कच है। वर्तमान समयमें राक्षस-जातिका बिलकुल उच्छेद हो चुका है। मनुजादोंकी जो जातियाँ इधर-उधर पायी जाती हैं वह उनके अत्यन्त अविकसित पूर्वरूपसे बची-खुची हैं। जो लोग रामायणकी

घटनाओंको पाँच-सात हजार वर्षोंके भीतरकी मानते हैं उन्हें हनुमान्‌जीको वानर और राक्षसादिको मनुष्य-जातिके अतिरिक्त प्राणी माननेमें सङ्कोच होता है और होना ही चाहिये; क्योंकि ५-७ हजार वर्षके भीतर ऐसे प्राणियोंका अत्यन्ताभाव नहीं तो अभाव अवश्य ही समझना चाहिये। परन्तु हम यह क्यों मान लें कि रामायणकी कथा केवल ५-७ हजार वर्षोंकी है? हमें ऐसा कोई विशेष कारण देखनेमें नहीं आता कि हम उन पश्चिमी लोगोंसे अपने यहाँके इतिहासके मामलेमें समयके विषयमें अवश्य ही सहमत हो जायँ, जो हमारी प्राचीनताको घटानेके निरन्तर प्रयत्नमें लगे रहा करते हैं। सच्चा विज्ञान इस प्रयत्नका बराबर विरोध करता रहा है। मैं यह माननेके लिये तैयार नहीं हूँ कि हनुमान्‌जी कोई द्रविड़देशीय मनुष्य थे, यद्यपि मैं पार्जटरकी बहुत-सी कल्पनाओंका आदर करता हूँ। जिन प्राणियोंका शरीर बहुत तरल पदार्थोंका बना हुआ होता है वह अपने शरीरको सङ्कोच और प्रसारसे सहजमें छोटा और बड़ा कर सकते हैं। शरीरका पदार्थ जितना ही तरल होगा उतनी ही इस बातमें आसानी होगी। वायुका सङ्कोच इतना हो सकता है कि उसका बना पिण्ड लाखों गुना छोटा हो जाय और इतना फैलाव हो सकता है कि लाखों गुना बड़ा हो जाय। चापका प्रभाव वायुपर सभी जानते हैं। प्राचीन कालके व्यालोंका शरीर अत्यन्त तरल पदार्थोंका बना होता था। सुरसा व्यालोंकी माता थी। उसका शरीर भी इसी तरहका बना हुआ था। इसीलिये बिना अणिमा और महिमा सिद्धिके ही वह अपने अङ्गोंको अत्यन्त अधिक फैला और सिकोड़ सकती थी।

मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरमु तोर मैं पावा॥ १२॥

अर्थ—(सुरसा बोली) देवताओंने मुझे जिस (बल-बुद्धिकी परीक्षाके) लिये भेजा था, (सो) उस तुम्हारे बुद्धि और बलका मर्म मैं पा गयी॥ १२॥

टिप्पणी—हनुमान्‌जीसे इसके कहनेका प्रयोजन यह था कि यह न समझें कि मैं विघ्न करने आयी थी। अपनी सफाईके लिये ऐसा कहा। पुनः देवताओंका भेजना कहकर उनकी भी सफाई दी कि उन्होंने भी मुझे विघ्न करनेको नहीं भेजा; किन्तु बल-बुद्धिकी परीक्षाके लिये भेजा था। परीक्षाहेतु हमने तुमसे झूठ कहा था कि *'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।'*

शङ्का—सुरसाने इस किस्मकी परीक्षा क्यों ली?

उत्तर—जैसा काम लेना होता है वैसी ही परीक्षा भी होती है। सुरसाने सोचा कि इन्हें लङ्कामें प्रवेश करनेके लिये बहुत छोटा रूप और सिंहिका-वध तथा सीताजीके विश्वास एवं राक्षसोंसे युद्धके लिये बड़ा रूप धरना होगा। इसलिये ऐसी परीक्षा ली जिसमें दोनों रूप बनाना पड़े। (रामशंकरशरण व्यासजी)

बलका मर्म इस तरह पाया कि बलसे उसके मुखमें न आ सके (उसके मुखसे दुगुने ही रहे) और बुद्धिका मर्म इससे मिल गया कि बुद्धिसे मुखमें प्रवेश करके निकल भी आये। इतनी शीघ्रता की कि वह मुख बन्द न कर पायी थी; अथवा कान, नाक आदि छिद्रोंसे बाहर निकल आये।

इस अर्धाली और आगे दोहेसे मिलता हुआ श्लोक अध्यात्मरामायणमें यह है—'**गच्छ साधय रामस्य कार्यं बुद्धिमतां वर॥ देवैः सम्प्रेषिताहं ते बलं जिज्ञासुभिः कपे। दृष्ट्वा सीतां पुनर्गत्वा रामं द्रक्ष्यसि गच्छ भोः॥**' (२३-२४)

दो०—रामकाजु सबु करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।
आसिष देइ गई सो हरषि चलेउ हनुमान॥ २॥

अर्थ—तुम बल-बुद्धिके निधान (खजाना, पात्र, खान) हो, अतः श्रीरामजीका सभी काम करोगे। आशीर्वाद देकर वह चली गयी तब हनुमान्‌जी हर्षपूर्वक चले॥ २॥

टिप्पणी—(क) हनुमान्‌जीने प्रथम कहा था कि *'रामकाजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं',* उसपर यह कहती है कि *'रामकाजु सबु करिहहु'* अर्थात् तुम यह सब करोगे, समुद्र लाँघकर श्रीसीताजीको देखोगे और उनका समाचार श्रीरामजीसे सुनाओगे (ख) *'बल बुद्धि निधान'* का भाव कि बिना

बल और बुद्धिके रामकार्य हो नहीं सकता। यथा—*'जो नाँघइ सतजोजन सागर। करइ सो रामकाज मतिआगर॥'* (कि०)। (ग) हनुमान्‌जीने प्रणाम किया, इसीसे सुरसाने आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद पानेसे हनुमान्‌जीको हर्ष हुआ; क्योंकि सुरसा देवी है। देवीके वचन असत्य नहीं हो सकते, इसके आशीर्वादसे सब कार्य होगा। पुनः *'हरषि'* इससे कि जो भारी विघ्न मिला था वह भलीभाँति निवृत्त हो गया और विघ्नकारिणी भी आशीर्वाददायिनी हुई। पुनः भाव कि वह इनको इतनी देर रोके रही थी, इसलिये उनको प्रसन्न करनेके लिये उसने अपनी सफाई दी, आशीर्वाद दिया, प्रशंसा की और प्रसन्न किया। (घ) हनुमान्‌जी जबसे समुद्रतटसे चले तबसे यहीं रुके। बीचमें कहीं नहीं ठहरे। अतएव फिर *'हरषि चलेउ'* कहा। जब कोई कहीं रुकता या ठहरता है तब वहींसे उसका चलना भी कहा जाता है, यथा—*'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी', 'चलेउ पवनसुत बिदा कराई'* इत्यादि। [यह दोहरा छन्द है। (ब्र० चं०)]

नोट—सुरसाने पहले हनुमान्‌जीको *'तोर'* कहा—*'बुधि बल मरमु तोर मैं पावा'* और यहाँ *'तुम्ह'* बहुवचनका प्रयोग किया है। परीक्षा छोटेकी ली जाती है, जबतक किसीको कार्यके योग्य नहीं समझा जाता तभीतक परीक्षा की जाती है। परीक्षा प्रायः बड़ा ही करता है। अतएव परीक्षासम्बन्धसे *'तोर'* कहा। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर, बल-बुद्धिनिधान जान लेनेपर उनको श्रीरामकार्य करनेयोग्य बल-बुद्धिनिधान कहनेके समय सम्मानार्थ *'तुम्ह'* बहुवचनका प्रयोग किया गया। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि वानररूप देखकर *'तोर'* कहा पर जब बल-बुद्धि कहनेका समय आया तब लज्जा लगी। इससे बहुवचनका प्रयोग किया। इससे उपदेश मिलता है कि जबतक किसी विशेष गुणकी प्रतीति न होगी तबतक कोई आदर न करेगा। 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'।

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई। करि माया नभ के खग गहई॥ १॥

अर्थ—एक निशाचरी समुद्रमें रहती थी जो माया करके आकाशमें उड़ते हुए खगोंको पकड़ लिया करती थी॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) निशाचरी कहनेका भाव कि सुरसा देवी थी और यह राक्षसी है; अतः जो निशाचर आते-जाते थे उनको नहीं पकड़ती थी। (ख) *'सिन्धु महुँ रहई'* कहनेका भाव कि जीवोंके रहनेके नभ, जल और थल यही तीन स्थल हैं। इनमेंसे नभका विघ्न सुरसाद्वारा हुआ, जलमें सिंहिका विघ्न और थलमें लङ्किनी विघ्न है। तीनों स्थलोंके विघ्न इस प्रसङ्गमें कहे हैं। सुरसा बाहरसे आयी। यथा—*'पठइन्हि आइ कही·····'* और यह सिन्धुमें रहती है। *'रहई'* पदसे इसका निवासस्थान जल ही निश्चय किया। (ग) कविने सुरसा, लङ्किनी और त्रिजटा तीनके नाम लिखे, इस निशाचरीका नाम क्यों न लिखा? उत्तर—ये तीनों निश्छल हैं और रामकार्यकी साधक हुईं। यथा—*'रामकाजु सब करिहहु तुम्ह·····'* (सुरसा), *'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥'* (लङ्किनी) *'सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करौ हित अपना॥'* (त्रिजटा) यह निशाचरी आदिसे अन्ततक कपटिन और दुष्टा है, रामकाजमें बाधक हुई, हनुमान्‌जीको खाने दौड़ी अर्थात् खानेका विचार किया। यथा—*'सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा'*। अतएव रामद्रोही, रामविमुखी जानकर कविने उसका नाम न लिखा, यथा—*'काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥'* अथवा, यह जलमें गुप्त रहती है; इसीसे ग्रन्थकारने भी गुप्त रखा, नाम न लिखा।

नोट—१ *'निसिचरि एक'* इति। इसका नाम सिंहिका है। यह हिरण्यकश्यपकी कन्या और विप्रचित्ति दैत्यकी स्त्री थी। यह कामरूपिणी (इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली) और छायाग्राहिणी थी। हनुमान्‌जीको देखकर इसने सोचा कि आज बहुत दिनोंके लिये पेट भर जायगा। नमुचि और राहु आदि तेरह दैत्योंकी यह जननी थी। इनमेंसे राहु सबसे भयङ्कर था।

शङ्का—कविने सिंहिका निशाचरी, लङ्किनी और त्रिजटा इन तीनोंके साथ 'एक' शब्द दिया है, यथा—*'निसिचरि एक सिन्धु महँ रहई', 'नाम लंकिनी एक निसिचरी', 'त्रिजटा नाम राक्षसी एका'*। पर सुरसाके साथ यह शब्द नहीं दिया। यथा—*'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता'* यह क्यों? उत्तर—ये तीनों अपने-

अपने कार्यमें एक ही (अद्वितीय) हैं, इनके समान दूसरा नहीं। निशिचरी (सिंहिका) के समान माया जाननेवाली लङ्कामें कोई नहीं है कि जो छाया पकड़कर जीव-जन्तुको खींच ले। लङ्किनी लङ्कापुरी (का रूप) ही है। ऐसी दूसरी नहीं है जो लङ्काके चोरको ही आहार कर ले। तीसरी त्रिजटा सो इसके समान रामभक्त और विवेक-निपुण लङ्कामें दूसरी राक्षसी नहीं। अतएव इन तीनोंके साथ 'एक' शब्द दिया गया। और, सर्पोंकी माता सुरसा ओर कद्रू दोनों हैं; इससे सुरसाके साथ 'एक' विशेषण न दिया। ये (सिंहिका, लङ्किनी और त्रिजटा) तीनों एक-ही-एक प्रसिद्ध हैं और ये (सुरसा और कद्रू) दोनों प्रसिद्ध हैं। [कद्रू नागोंकी माता है और सुरसा सर्पोंकी। यद्यपि नाग और सर्पमें बहुत भेद है तथापि हिन्दी भाषामें ये पर्यायी शब्द माने जाते हैं।]

वि० त्रि०—*'करि माया'* इति। राहुकी माता सिंहिका समुद्रमें रहती थी, यह मायासे आकाशचारियोंका शिकार बैठे-बैठे करती थी। अघटितघटनापटीयसी माया है। जो न होता हो उसे कर दिखाना माया है। माया समझमें नहीं आती। समझमें आ जाय तो वह माया ही नहीं रह जाती। होता तो ऐसा ही है कि छाया पकड़ी नहीं जाती। व्यक्तिके पकड़े जानेसे उसकी छाया पकड़ी जाती है। यहाँ सिंहिका छाया पकड़ती थी, और जिसकी छाया है, वह पकड़ा जाता था। यही माया है, यही अघटित घटना है। छाया पकड़कर जीवोंको अपने मुखमें खींच लेती थी, जैसे चढ़ी हुई पतंगको कोई डोरी पकड़ कर उतार लेते हैं।

टिप्पणी—२ **खग**=ख (आकाशमें)+ग (गमन करनेवाले)। ***खे आकाशे गच्छतीति खगः।*** यह शब्द यहाँ यौगिक है। आगे *'गहई'* की विधि लिखते हैं अर्थात् बताते हैं कि किस विधिसे आकाशचारी जीवोंको पकड़ती है।

ब्र० चं०—*'निसिचर एक'* से *'जे गगन उड़ाहीं'* तक 'पायकुलक' छन्द है। और फिर *'जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं'* द्रुतपा है।

जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥ २॥
गहै छाँह सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**जीव जन्तु**=छोटे-बड़े सभी जीव। जीव शब्द बड़ेका और जन्तु बहुत छोटेका वाचक है। यथा—*'खग मृग जीव जन्तु तहँ नाहीं।'* (१। २१०। ११), *'जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥'* (३। १३। ७) *'अस को जीव जन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥'* (२। १६२। ६) स्थूल और सूक्ष्म, बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा जाननेके लिये 'जीव-जन्तु' कहा।

अर्थ—जो भी जीव-जन्तु आकाशमार्गसे उड़ते थे, राक्षसी जलमें उनका प्रतिबिम्ब देखकर॥ २॥ उस प्रतिबिम्बको ही पकड़ लेती थी, जिसके कारण वे जीव-जन्तु उड़नेमें असमर्थ हो जाते थे। इस युक्तिसे वह सिंहिका नामकी राक्षसी सदा आकाशमें उड़नेवाले जीवोंका भक्षण करती थी॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'जीव⋯'* इति। (क) शङ्का होती है कि जन्तुसे क्या आहार होता है जो उन्हें पकड़ती है। समाधान यह है कि जन्तुओंसे कुछ आहार नहीं होता, उनसे पेट नहीं भर सकता, यह ठीक है। पर यहाँ तो केवल उसकी मायाकी प्रबलता दिखानेके लिये कहा गया है कि जन्तु-सरीखे सूक्ष्म जीवोंतकको पकड़ लेती है। ['सभी गगनचारी जीव-जन्तुओंको क्यों पकड़ती है जब कि उनसे उसका पेट तो भरेगा नहीं?' इसका उत्तर बाबा हरीदासजी यह देते हैं कि राक्षसोंका देवताओंसे वैर है, पर देवताओंकी छाया नहीं पड़ती, इससे वह उनको नहीं पकड़ पाती। इसी कुढ़नसे वह सभी जीव-जन्तुओंको पकड़ा करती है। यह भी सोचती है कि कहीं देवता ही खग बनकर न जाते हों। समुद्रमें असंख्यों जलचर हैं उनको नहीं पकड़ती, खाती। क्योंकि जानती है कि वे देवता नहीं हैं, सत्य ही जलचर हैं। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'जीव-जन्तु' शब्दसे जनाया कि श्रीहनुमान्जी न तो पर्वताकार शरीर होनेसे इसकी मायासे बच सकते थे और न अत्यन्त लघुरूप हो जानेसे (जैसे सुरसासे बचे थे)। इससे बचनेके लिये कोई तीसरी ही युक्ति करनी पड़ेगी।] (ग) *'जे गगन उड़ाहीं'* का भाव कि सब जीव-जन्तु आकाशमें नहीं

उड़ते, जो उड़ते हैं उनको पकड़ती है। (घ) *'जल बिलोकि'* से जनाया कि वह माया जलमें लगती है, सूखेमें परछाहीं पड़े और उसे वह पकड़ ले तो जीव-जन्तु पकड़े नहीं जा सकते। (ङ) *'खग'* शब्द रूढ़ि पक्षिवाचक है अर्थात् पक्षीको कहते हैं। इसीसे पूर्व 'खग' शब्द देकर अब उसीको पुनः स्पष्ट करते हैं कि *'जे गगन उड़ाहीं'* वा *'गगनचर'* ये सब खग हैं। (च) *'एहि बिधि सदा गगनचर खाई'* अर्थात् सदैव जलमें ही रहती है और आकाशचारियोंको ही खाती है, जलचर और थलचरोंको नहीं खाती। यथा—**'सिंहिका नाम सा घोरा जलमध्ये स्थिता सदा। आकाशगामिनां छायामाक्रम्याकृष्य भक्षयेत्॥'** (अ० रा० ५। १। ३५) पुनः, इससे जनाया कि उसका पराक्रम अत्यन्त दुर्धर्ष था, कोई अबतक उसके कार्यमें बाधक नहीं हुआ।

वैज्ञानिक रहस्य

सिंहिका राहुकी माता थी। जब पृथ्वीकी छायामें चन्द्रमा आ जाता है तब राहु नामक दैत्य चन्द्रदेवताको ग्रहण करने लगता है और जब सूर्य चन्द्रमाकी छायामें या ओटमें पड़ जाता है तब राहु नामक दैत्य सूर्यको खींचने लगता है। यह विशेष प्रकारकी शक्ति राहु और उसकी माता सिंहिकाहीमें बतलायी जाती है। छायाका अर्थ यह है कि उतने स्थानका प्रकाश रुक गया है अथवा प्रकाश नामक एक विशेष पदार्थकी धारामें कमी हो गयी है। ऐसी अवस्थामें किसी सूक्ष्म चुम्बकत्वकी-सी शक्तिसे छाया डालनेवाला पिण्ड खिंच जाता है और उसकी गतिमें रुकावट पड़ जाती है। चन्द्रमा और सूर्यकी गतिमें तो कोई रुकावट नहीं देख पड़ती पर साधारण गगनचारियोंमें ऐसी रुकावटका पड़ जाना और पिण्डका सिंहिकाकी ओर खिंच जाना असम्भव नहीं है। हनुमान्‌जीकी गतिमें ज्यों ही रुकावट मालूम हुई त्यों ही उन्होंने उसे खतम कर दिया।—(गौड़जी)

सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपटु कपि तुरतहि चीन्हा॥ ४॥

अर्थ—(उसने) वही छल हनुमान्‌जीके साथ किया। उसका कपट हनुमान्‌जीने तुरन्त जान लिया। (छाया पकड़नेका हाल तुरन्त जान गये।)॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) हनुमान्‌जी कपटको पहचानते हैं और कपटीको मारते हैं। इसीसे नाम-वन्दनामें नामको हनुमान् और कपटी कलिको कालनेमि कहा। यथा—*'कालनेमि कलि कपटनिधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥'* उपमामें भी *'सुमति समरथ'* कहा। भाव यह कि कपि कपटके रूप ही हैं, इसीसे राक्षसीके कपटको तुरन्त पहचान लिया, यथा—*'कपट मर्कट बिकट व्याघ्र पाखंड मुख सुखद मृगब्रात उत्पातकर्त्ता।'* (वि० ५९) (ख) *'तुरतहि चीन्हा'* का भाव कि न जाने कबसे वह समुद्रमें रहती रही, सदैव आकाशगामियोंको खाती रही, पर किसीने भी उसका कपट न जान पाया, सभी गिरकर मूर्छित हो जाते थे, पर कपि तुरन्त ही जान गये। [पाँड़ेजी कहते हैं कि—*'चीन्हा'* शब्द पूर्व परिचयका भी सूचक है। सुग्रीव जब राज्यसे निकाले हुए फिरते थे तब वे यहाँ आये थे। हनुमान्‌जी भी साथ थे। वाल्मीकीयमें सुग्रीवने इनको छायाग्राहिणीका परिचय दिया है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'पहचाननेवालेपर मायाका बल नहीं चलता' यथा—*'सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥'* हनुमान्‌जी उसकी माया समझ गये। **'बुद्धिमतां वरिष्ठम्'** हैं, समझनेमें देर न लगी, अतः उसके वधमें समर्थ हुए, मायाका बल न चला। 'हनूमान्' नाममें भाव यह भी है कि जो बड़े-बड़े अभिमानियों शक्र, राहु, पवि आदिके मानका हनन करनेवाले हैं उनके साथ छल किया, अतः इसका भी मान नष्ट करेंगे।] (ग) माया, छल और कपट तीनों पर्याय हैं। यथा—*'करि माया नभके खग गहई', 'सोइ छल', 'तासु कपट'।*

नोट—सर्ग १ श्लोक १८१—१९१ में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि छायाके पकड़ जानेपर हनुमान्‌जीने सोचा कि मुझे सहसा किसीने पकड़ लिया है। नीचे जलमें विकृत मुखवाली राक्षसीको देखकर समझ गये कि हो-न-हो यह वही अद्‌भुत छायाग्राही प्राणी है जिसे सुग्रीवने चलते समय बताया था। उसके मर्मस्थानोंको देखकर वे उसके मुँहमें घुसे और तीखे नखोंसे उन्होंने उसके मर्म-स्थानोंको फाड़ डाला

और वेगसे बाहर निकलकर पुनः चले। अध्यात्मरामायणमें पैरसे मारना लिखा है। इसके मारनेके सम्बन्धमें मतभेद है। गोस्वामीजीने *'ताहि मारि'* पद देकर सबके मतोंकी रक्षा कर दी है।

ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गएउ मतिधीरा॥ ५॥

अर्थ—उसको मारकर वीर और धीरबुद्धि पवनपुत्र समुद्रके पार गये॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'मारुतसुत'* कहनेका भाव कि मारुत (वायु) किसीके ग्रहणमें नहीं आता। ये उन्हींके पुत्र हैं, अतः ये भी सिंहिकाके ग्रहणमें न आये। मरुत्से सब मायाका नाश होता है, इसीसे लोग मन्त्र पढ़कर फूँक देते हैं; अतः इन्हें माया न लगी। यथा—*'उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन जाया॥'*—[पुनः भाव कि (क) यद्यपि ये मारुत (पवन) के पुत्र हैं तथापि उनसे भी वीर हैं, यथा—**'बेग जित्यो मारुत, प्रताप मारतण्ड कोटि।'** (क० ५। ९) **'मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवनेनास्मि तत्समः।'** (वाल्मी० ४। ६७। १०)। पवन भी रावणसे डरते थे, ये निःशङ्क हैं। (मा० त० सु०) (ख) [महावीरजी जलचर न थे, जलमें इन्होंने सिंहिकाको मारा और फिर कूदते पर वहाँ कुछ आधार न था। जल-ही-जल था तो भी वे बिना सहारे अपने ही बलसे उछले और समुद्रपार पहुँच गये, यह पवनके वीर पुत्रका ही काम था। (रामशंकरशरणजी)]

टिप्पणी—२ *'बीरा, मतिधीरा'* इति। वीर और मतिधीर कहनेका भाव कि सिंहिका प्रबल मायाविनी थी सो बल और बुद्धिसे जीती गयी। मारा इससे वीर कहा और घबड़ाये नहीं, समुद्र पार गये और ग्लानि न हुई; इससे मतिधीर कहा। अथवा, वीर हैं, इससे मतिधीर कहा। यथा—*'सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहिं।'* (२। १९१) सौ योजन जानेमें थकावट न हुई, उन्होंने एक साँस भी न ली और विघ्न-पर-विघ्न होनेपर भी क्षुब्ध न हुए। सावधान और आगेके लिये भी निःशङ्क, निश्चिन्त बने रहे, अतः मतिधीर कहा। यथा—**'अनिःश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति।'** (वाल्मी० ५। २। ३) अर्थात् सौ योजन समुद्र लाँघकर भी वे न थके, उन्होंने थकावटकी एक साँस भी न ली। *'पार गएउ'* से श्रमरहित पार होना जनाया।

तहाँ जाइ देखी बन सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥ ६॥
नाना तरु फल फूल सुहाए। खग मृग बृंद देखि मन भाए॥ ७॥

अर्थ—वहाँ जाकर श्रीहनुमान्‌जीने वनकी शोभा देखी। मधुके लोभसे भ्रमर गुंजार कर रहे हैं॥ ६॥ अनेकों तरहके फल-फूलसे शोभित वृक्ष और पशु-पक्षियोंके समूह देख मनको अच्छे लगे॥ ७॥

टिप्पणी—१(क) *'बन सोभा'* इति। यथा—*'सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप निकर मधु लोभा॥'* (४। १३। १) (ख) *'तहाँ जाइ'* से जनाया कि जलके समीप लङ्कापुरी नहीं है, कुछ दूरीपर है। (ग) *'देखी बन सोभा'* इति। शोभा वही है जो आगे वर्णन की है। (घ) *'नाना तरु फल फूल सुहाए'* अर्थात् कोई वृक्ष ऐसा नहीं है जिसमें फल-फूल न हों, किसीमें फल, किसीमें फूल और किसीमें फल-फूल दोनों हैं। वनके आश्रयसे मृगवृन्द, फलके आश्रयसे पक्षी और फूलके आश्रयसे भ्रमरोंके वृन्द रहते हैं। (ङ) *'देखि मन भाए'* का भाव कि हनुमान्‌जी वनचर हैं, यथा—*'बनचर देह धरी छिति माहीं।'* वनचरको वन प्रिय लगना ही चाहिये। [फिर भी इन्होंने फल छुएतक नहीं, क्योंकि उनका सिद्धान्त है, प्रतिज्ञा है कि *'राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ बिश्राम'*। कार्य हो जानेपर अशोकवनके फलोंको देखकर भूख लगी। यथा—*'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥'* यह मनका कैसा भारी संयम है!! *'मन भाए'*, *'सुहाए'* से सूचित किया कि वह वन प्राकृतिक सौन्दर्यसे मनको मोहित करनेवाला था।]

प० प० प्र०—यहाँ सागरतटके वनका वर्णन है। लङ्काके परकोटेके भीतरके वन और उपवनका वर्णन आगे छन्दोंमें है। इस वर्णनके क्रममें एक विशेषता है जो मानसमें अन्यत्र नहीं देखी जाती। यहाँ पहले वन देखनेमें आया। यथा—*'तहाँ जाइ देखी बन सोभा'*। तब भ्रमरोंकी गुञ्जार सुननेमें आयी, यथा—*'गुंजत चंचरीक'*। फिर फल, फूल, पक्षी और पशु, क्रमशः देखनेमें आये। अन्य स्थानोंमें क्रम ऐसा है—*'सुंदर बन कुसुमित अति*

सोभा। मंजुल मधुप निकर मधु लोभा॥' 'सरन्हि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मधुप निकर रस भूले॥' (२। १२४। ७) अर्थात् वनका फूलना कहकर भ्रमरोंका गुञ्जार कहा गया है। यहाँ अन्यत्रका-सा वर्णन न करके दिखाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी जैसे-जैसे वनकी ओर क्रमशः बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे स्वाभाविक अनुभूति क्रमसे हो रही है। दूरसे वन प्रथम दृष्टिगोचर हुआ, कुछ समीप पहुँचनेपर भ्रमरोंकी गुञ्जार सुन पड़ी। अधिक समीप पहुँचनेपर फल प्रथम देख पड़े, क्योंकि ये बड़े होते हैं, तब फूल। वन घना होनेसे, पक्षी पत्तोंमें छिपे होनेसे अत्यन्त निकट जानेपर दिखायी दिये और तब पृथ्वीपर चलनेवाले पशु।

वि० त्रि०—*'खग मृग बृंद देखि मन भाए'* से स्पष्ट है कि रावण भी अपने वनकी शोभाको बने रहनेके लिये खगमृगवृन्दको मारने नहीं देता था। अतः *'कहुँ महिष मानुष धेनु अज खर खल निसाचर भच्छहीं'* यह वर्णन उन जीवोंका है जो बाहरसे रसदकी भाँति पकड़कर लाये जाते थे। *'मानुष'* का उल्लेख होनेसे इसी भावकी पुष्टि होती है।

सैल बिसाल देखि एक आगे। तापर धाइ* चढ़ेउ भय त्यागे॥ ८॥

अर्थ—आगे एक बड़ा भारी पर्वत देखकर श्रीहनुमान्‌जी उसपर भय छोड़ दौड़कर चढ़ गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम वनवर्णन किया फिर शैल। इससे पाया गया कि यह वन समुद्रके किनारेका है। यदि प्रथम शैलको कहकर तब वनका वर्णन करते तो पर्वतके ऊपरका वन समझा जाता। (ख) 'विशाल' और 'एक' से जनाया कि सब पर्वतोंसे यह भारी है। (ग) *'देखि एक आगे, धाइ चढ़ेउ'* का भाव कि यह पर्वत मार्गपर और दुर्गम्य था। इससे *'धाइ चढ़ेउ'* कहा। वानरोंके चढ़नेकी दो रीतियाँ हैं, एक तो कूदकर चढ़ते हैं, यथा—*'कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर', 'कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा। गहि गिरि मेघनाद पर धावा॥'* दूसरे दौड़कर चढ़ते हैं जैसे यहाँ। भाव यह कि सघन वनके कारण लङ्का न देख पड़ी; अतएव उसे देखनेके लिये ऊँचेपर चढ़े। (घ) *'भय त्यागे'* का भाव—(१) उसपर रावणकी ओरसे कालका पहरा था। (यह बात अगली चौपाईसे स्पष्ट है) यथा —'**बड़ो बिकराल बेष देखि सुनि सिंहनाद डस्यो मेघनाद सबिषाद कह्यो रावनो। बेग जीत्यो मारुत प्रताप कोटि मारतण्ड कालऊ करालता बड़ाई जीत्यो बावनो**॥' (कवित्तरामायण० सुं०)। [(२) मयङ्क-टीकाकार लिखते हैं कि—'शिवजीको 'अकस' (मर्ष) था कि ब्रह्माजीके पाँच सिर हैं और मेरे भी पाँच ही हैं। एक बार ब्रह्माजीको इस पर्वतपर बैठे देख उन्होंने उनका एक सिर काट डाला। तबसे ब्रह्माजीके चार ही सिर रह गये। चतुर्मुख ब्रह्माने शाप दिया कि जो कोई इस पर्वतपर पैर देगा अर्थात् इसपर आवेगा उसका सिर फट जायगा और उसे काल-सर्प भक्षण कर लेगा; परन्तु हनुमान्‌जीने इसकी कुछ परवाह न की, पर्वतपर निर्भय चढ़ गये' (मा० म०)। (३) समुद्र पार करते समयमें ही दो विघ्न हुए थे और यह पर्वत तो खास लङ्का प्रदेशमें है, लङ्कापुरी अत्यन्त निकट है, न जाने इसपर क्या-क्या विघ्न उपस्थित हों, इसका भय छोड़कर उसपर चढ़ गये। (४) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'लङ्का निकट है और पहले पर्वत इनका वेग, भार न सह सके थे' यह भय न किया। (५) पाँड़ेजी और वीरकविजी लिखते हैं कि *'भय त्यागे'* से शङ्का होती है कि क्या अबतक भय था? उत्तर यह है कि समुद्रमें दो विघ्न हुए; इसलिये पार होनेतक कोई और विघ्न न मिल जाय इसका सन्देह था, पर वह पार आ जानेसे दूर हो गया। अथवा, अबतक भय हनुमान्‌जीका साहस देखनेके लिये साथ था; किन्तु सिन्धु पार होनेपर वह हार मानकर चला गया, इससे निर्भय हुए।' (६) निशाचरोंका भय न किया कि न जाने रावणकी आज्ञासे इसपर रहते हों। (७-८) बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इस पर्वतपर रावणका विहार-स्थान (क्रीड़ा-भवन) बना है जिसकी रक्षाके लिये यहाँ सदैव

* धाइ—ना०प्र०। धाय—भा० दा०। कूदि-रा० प० (का०), पं०। 'धाइ' का भाव टिप्पणीमें है। 'कूदि' पाठके विषयमें मा० त० सु० का मत है कि—'जहाँ केवल ऊँचे चढ़ना है वहाँ कूदकर चढ़ना ही वानरोंका जातीय स्वभाव है। किसी ऊँचे स्थानपर दौड़कर नहीं चढ़ते किन्तु कूदकर ही चढ़ते हैं।' 'धाइ' के समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि यहाँ 'बिसाल' विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ प्रायः लम्बा-चौड़ा और बड़ा होता है। लम्बे-चौड़े पर्वतोंमें ढाल भी होता है।

निशाचरगण रहते हैं। ऐसे स्थानमें चुपचाप गुप्त रीतिसे जाना उचित था, पर हनुमान्‌जी उसपर भी निर्भय चढ़ गये। पुनः दूसरा समाधान विश्राम-सागरमें इस प्रकार है कि ***'शिवा शापयुत शैलपर, गयेउ भयउ गहिं बाल। कछु प्रभाउ नहिं कीश को प्रभु प्रताप भखि काल॥'*** (शीला) (९) उसपर चढ़नेसे लङ्कावासी इनको देख लेंगे यह भय न किया। (वि० त्रि०)]

उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥ ९॥
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥१०॥
अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। कनककोट कर परम प्रकासा॥११॥

अर्थ—हे उमा! इसमें कुछ कपिकी बड़ाई नहीं है। यह प्रभुप्रताप है जो कालको भी खा जाता है॥ ९॥ उन्होंने पर्वतपर चढ़कर लङ्कापुरी देखी। अत्यन्त विशेष दुर्गका वर्णन नहीं हो सकता*॥ १०॥ वह अत्यन्त ऊँचा है। उसके चारों ओर समुद्र है। स्वर्णकोट परम प्रकाश कर रहा है॥ ११॥

टिप्पणी—१ ***'उमा न कछु'''''*** इति। (उमा सम्बोधनसे यहाँ 'उमा शंभु' संवाद जनाया। ***'भय त्यागे'*** सुनकर श्रीपार्वतीजीकी चेष्टामें कुछ आश्चर्यकी झलक आ गयी, यह देखकर शिवजी समाधान करने लगे कि ***'उमा न कछु'''''।*** हनुमान्‌जीको देखकर काल कैसे भाग गया? इसपर शिवजी कहते हैं कि यह प्रभुका प्रताप है जो हनुमान्‌जीके साथ है। यही बात श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीसे तथा श्रीरामजीसे कही है। यथा— ***'प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।'*** (१६) ***'तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल।'*** (३३) उनके प्रतापसे कपि कालको खा सकता है। यथा—***'पटकौं नीच मीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावौं। तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं॥'*** (गी० ६। ८) [श्रीरामजीने किष्किन्धासे इनके पयानके समय ***'परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥'*** (४। २३। १०) यही प्रताप उनके साथ है। श्री वि० त्रि० जी लिखते हैं 'जिस शैल विशालपर हनुमान्‌जी दौड़कर चढ़े, वह इतना ऊँचा था कि उसपरसे लंकाका भीतरी दृश्य दिखायी पड़ता था। अतः उसपर चढ़ना और कालके मुखमें जाना एक ही बात थी। क्योंकि उसपर चढ़े हुएको लङ्काभरके निशाचर देख सकते थे। यह प्रभुका प्रताप था कि इतने विशाल पर्वतके शिखरपर आरूढ़ इतने विशालकाय हनुमान्‌जीको किसीने नहीं देखा।']

टिप्पणी—२ दूसरा कवि होता तो श्रीहनुमान्‌जीकी बड़ाई करता। पर शिवजी स्वयं हनुमान्‌रूपमें हैं, इससे अपने मुखसे अपनी बड़ाई कैसे करें? अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना निन्दित है। इसीसे तो लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे कहा—***'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥'*** (१। २७४), ***'''''सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।'*** (२७४) (वीरकविजीका मत है कि यहाँ शिवजीने हनुमान्‌जीके पराक्रमका निषेध इसलिये किया कि उसका धर्म ***'प्रभु प्रताप'*** में स्थापित करना अभीष्ट था जो कालका भी भक्षक है। यह 'पर्यस्तापह्नुति अलङ्कार' है।)

टिप्पणी—३ [***'कपि कै अधिकाई'*** का भाव कि यह करनी 'कपि' (बन्दर) की नहीं है और न यह बन्दर है। यह साक्षात् प्रभुप्रताप है (वानरका शरीर धारण करके आया है) जो कालका भक्षक है। इससे रौद्ररस साबित हुआ। (पाँड़ेजी)]

☞ प्र०—गोस्वामीजी जहाँ कोई चरित या प्रसङ्ग समाप्त करते हैं वहाँ प्रायः संवादकर्ताका या अपना नाम रखते हैं, जो अध्यवसाय या सर्गका काम देता है। यहाँ शिवजी दैन्यघाटको बड़ाई दे रहे हैं।

टिप्पणी—४ (क) दुर्ग=किला, यथा—***'चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर', 'उतरेउ बीर दुर्ग ते सनमुख चलेउ बजाइ', 'चला दुर्ग तजि सेन न संगा'।*** (ख) ***'लंका तेहि देखी'*** और ***'कहि न जाइ'*** इन पदोंसे जनाया

* पं० रामकुमारजीने 'किला' अर्थ किया है। अर्थात् लङ्काके किलेको देखा जो अति विस्तृत था, अतः 'कहि न जाइ'। बाबा हरिहरप्रसादने 'दुर्गम' अर्थ किया है। अर्धालीके अर्थ यों भी किये जाते हैं—'जो विशेषकर अत्यन्त दुर्गम था' (मा० त० सु०)। 'अत्यन्त दुर्गम होनेकी विशेषता कही नहीं जाती' (वीरकवि)।

कि देखते ही बनता है, कहते नहीं बनता। यथा—*'देखत बनै बरनि नहिं जाई'* (ग) *'तेहि'* अर्थात् जो कपि कालको खा सकता है उसीने पर्वतपर चढ़कर लङ्का देखी। तात्पर्य कि लङ्काका नाश करेगा। प्रथम समुद्र पार करके वनकी शोभा देखी, अब लङ्का देखी। जितनी वस्तुएँ देख पड़ीं उतनीका वर्णन आगे क्रमसे करते हैं।

नोट—१ ☞ *'गिरि पर चढ़ि लंका तेहि देखी'* इति। ☞ किसी देशमें, विशेषतः शत्रुके देशमें जानेके पहले उसकी रीति-भाँतिका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। पर्वतपरसे उन्होंने लङ्काकी बहुत-सी कामकी बातें देख लीं।

ब्र० चं०—*'सैल बिसाल देखि एक आगे।'''* से *'लंका तेहि देखी।'* तक पायकुलक है। *'कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी'* द्रुतपा और *'अति उतंग'''प्रकासा'* पायकुलक है।

टिप्पणी—५ *'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा'* इति। (इस अर्धालीसे *'अति'* शब्द उठाया गया है, जो आगे छन्द और दोहेतक ले जाया गया है। *'अति उतंग' 'अति बल, अति लघु।' 'अति उतंग'* का भाव कि लङ्कापुरी अपने स्वरूपसे ऊँची है और पहाड़पर बसी है। अतः *'अति उतंग'* है। यथा—*'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।'* किलेके चारों ओर खाईं होती है। यहाँ समुद्र ही खाइ है, यथा—*'खाईं सिंधु गँभीर अति चारिउ दिसि फिरि आव। कनककोट मनिखचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव॥'* (१। १७८) *'परम प्रकासा'* का भाव कि स्वर्णका प्रकाश है और उसमें दिव्य मणि लगे हैं। उनका परम प्रकाश है, जैसा आगे कहते हैं।

वि० त्रि०—*'अति उतंग'* कहनेसे भाव यह कि बड़ा भारी पाट समुद्रका चारों ओरसे है। कहींसे पृथ्वी सन्निकट नहीं है। पृथ्वीके गोलाकार होनेसे समुद्रकी ओर देखनेसे पृथ्वी आकाशसे मिली हुई मालूम होती है। अतः जितने ऊँचेपर चढ़े उतना ही विस्तार समुद्रका दिखायी पड़ता है। यथा—*'सेतु बंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई॥'* यहाँ तो गिरिपर चढ़कर हनुमान्‌जी देख रहे हैं। अत्यन्त विस्तार समुद्रका देखनेपर भी चक्षुके विषयका अवरोध समुद्रकी ऊँचाईसे ही हो रहा है। भाव यह कि किसी ओरसे लङ्कामें जानेके लिये सौ योजनसे कम पाट नहीं है।

नोट—ऊपर जो कहा था कि *'लंका तेहि देखी',* उसीका वर्णन अब करते हैं। नगरके वर्णनमें खाईं, कोट, अटारी, ध्वजा, बावली, कूप, तालाब, वार, नारि, असती और सतीका वर्णन होता है यह 'कविप्रिया' का मत है। इनमेंसे सती और ध्वजाका वर्णन नहीं किया गया है।

छंद—कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना* घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट† बीथी चारु पुर बहु बिधि बना॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै॥ १॥

अर्थ—सोनेकी चहारदीवारी (शहरपनाह, परकोटा) मणियोंसे विचित्र बनायी गयी है‡ उसमें सुन्दर आयतन स्थान, घर बहुत-से हैं। चौक (चौराहे), बाजार, सुन्दर रास्ते अर्थात् राजमार्ग, सड़कें और गलियाँ

*प्राचीन पाठ 'सुंदरायता घना' है। आधुनिक पाठ कहीं-कहीं 'सुन्दरायत अति घना' है, जिसका अर्थ होगा 'अत्यन्त सुन्दर और चौड़ा एवं सघन है'। 'सुंदरायतना' का अर्थ सुन्दरताका स्थान भी किया गया है।

† प्राचीन पाठ यही है। आधुनिक टीकाओंमें कहीं-कहीं 'सुघट्ट' है।

‡ १- वीरकविजी लिखते हैं कि ऊपरकी चौपाई ('कनककोट कर परम प्रकासा') में कोटका अर्थ शहरपनाह किया गया है। छन्दके 'कनककोट' में 'कोट' का अर्थ राजप्रासाद है, शहरपनाह नहीं। 'कोट' शब्दके गढ़, शहरपनाह, राजमन्दिर और यूथ पर्यायी शब्द हैं। जब चौक, बाजार आदिका वर्णन है, तब यहाँ प्राचीर (शहरपनाह) से प्रयोजन नहीं है। शहरपनाहपर मणिका जड़ा जाना अयुक्त है। इससे लक्षणा राजमन्दिरहीको व्यञ्जित करती है। २—'विचित्र' से चित्रामका बना होना भी ले सकते हैं।

हैं। सुन्दर नगर (इनसे एवं और भी) बहुत प्रकारसे बना (सजा) है। हाथी, घोड़ों और खच्चरोंके समूह, पैदल और रथोंके समूहोंको कौन गिन सकता है? बहुतसे रूपोंके निशाचरोंके यूथ (समूह) हैं जो अत्यन्त बलवान् हैं। अत्यन्त बलवती सेना वर्णन करते नहीं बनती॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) नगरके चारों ओर सोनेका शहरपनाह है जो अनेक रङ्गोंकी दिव्य मणियोंसे जटित है। अत: *'बिचित्र'* कहा। बनाव अच्छा है अत: सुन्दर *'आयतन'* कहा। यथा—*'कनक कोट मनिखचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव।'* (बा० १७८) *'घना'* के दो अर्थ हैं, एक यह कि (घर) बहुत हैं, दूसरे बस्ती सघन है। यहाँतक कोटका वर्णन हुआ। आगे पुरका वर्णन है, जिससे ज्ञात हुआ कि कोटके भीतर नगर है।

टिप्पणी—२ (क) *'चउहट्ट हट्ट'* इति। यथा—*'राजदुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥'* (उ० २८) *'चौहट सुंदर गली सोहाई। संतत रहहिं सुगंध सिचाई॥'* (ख) कोटका बनाव कनक और मणिसे होना कहा। पर पुरके बनावमें पाषाण, मृत्तिका आदि कुछ भी न कहा। इससे जनाया कि वह भी कनकमणिरचित है। यथा—*'सोइ मयदानव बहुरि सँवारा। कनकभवन मनिरचित अपारा॥'* (१। १७८) *'बहु बिधि'* का अन्वय सबके साथ है। (ग) प्रथम कोट, फिर राजाका स्थान और तत्पश्चात् पुरका वर्णन और प्रजाओंके स्थानोंका वर्णन किया गया, आगे पुरके रक्षकोंका वर्णन है।

टिप्पणी—३ *'गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि…'* इति। (क) गज, बाजि, रथ और पदचरसे चतुरंगिणी सेना हुई। (*'बहुरूप निसिचर यूथ'* इति। *'यूथ'* से यहाँ एक ही जाति, वर्ग या रूपके अनेक निशाचरोंके समूह अभिप्रेत हैं। *'बहुरूप'* से कामरूप एवं श्वान, शूकर, शृगाल, गर्दभ, अश्व, व्याघ्र, अज आदिके समान मुखवाले, अनेक रूप-रङ्ग और आकारके निशाचर समझना चाहिये। प्रत्येक रूपका अलग-अलग यूथ है।) (ख) *'सेन बरनत नहिं बनै'* इति। एक-एक यूथपतिकी सेना अगणित है। यह सेना चतुरंगिणी सेनासे पृथक् है। जैसा छन्दमें क्रम-वर्णन है उसी रीतिसे पुरकी रक्षाके लिये सेना खड़ी है। हाथी (१), घोड़े (२), रथ (३), पैदल (४), खच्चर (५), मल्ल (६) और भट (७) यह सप्तावरण हैं।

टिप्पणी—४ (क) पुरवर्णनमें छहों दुर्गोंका वर्णन किया अर्थात् छहों दुर्गोंके भीतर पुर बसा है। *'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।'* यह गिरिदुर्ग कहा। *'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा',* यह जलदुर्ग कहा। *'तहाँ जाइ देखी बन सोभा'* यह वनदुर्ग कहा। *'गज बाजि खच्चर'* से *'नगर चहुँ दिसि रच्छहीं'* तक नरदुर्ग कहा। किलेके भीतर जलवर्णन किया। यथा— *'बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं',* पर किलेके बाहर जलवर्णन नहीं किया। इससे यह 'धन्वदुर्ग' कहा। निर्जल देशको 'धन्व' कहते हैं। (ख) *'कनककोट'* से 'किलादुर्ग' कहा। (ग) महाभारतमें सात प्रकारके दुर्गोंका उल्लेख है। यथा '**धन्वदुर्गं महीदुर्गं अब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम्॥**' अर्थात् निर्जल भूमि, दलदल, जलकी खाई, वन, पर्वत, चतुरंगिणी सेना और किला—ये ही सात प्रकारके दुर्ग राजधानीके होते हैं। यहाँ छ: कहे, सातवाँ दलदल दुर्ग गुप्त है।*

छन्द—बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं॥

अर्थ—वन, बाग, उपवन (क्रीड़ाका वन), फुलवाड़ी, तालाब, कुएँ और बावलियाँ शोभा दे रही हैं। नर, नाग, सुर और गन्धर्वोंकी कन्याएँ अपने सौन्दर्यसे मुनियोंके मनको मोहित कर रही हैं।

नोट—१ *'बन'* वह है जिसमें सिंह, बाघ रहें और जो बिना लगाये उपजे। यथा—*'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥'* जिसमें फल-फूल हों वह बाग है, यथा—*'भूप बाग बर देखेउ जाई।*

---

* कोई-कोई 'शस्त्रदुर्ग' और 'मन्त्रदुर्ग' भी मानते हैं और 'मंडलीकमनि रावन राज करइ निज मंत्र' को मन्त्रदुर्गका उदाहरण मानते हैं। इस श्लोकमें पं० रामकुमारजी तथा मा० त० सु० कारने सात दुर्ग माने हैं और किसी-किसीने छ: ही माने हैं।

जहँ बसंत रितु रही लुभाई॥ लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥ नवपल्लव फल सुमन सुहाये।' उपवन क्रीड़ावन है। यथा—*'सुंदर उपबन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये॥'* (७। ३२। २) बाटिका=फुलवारी। यथा—*'सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ लता ललित बहु भाँति सुहाई। फूलहि सदा बसंतकी नाई॥'* पुनः, उपवन वनसे बहुत छोटा होता है, प्रायः यह विधानपूर्वक लगाया जाता है और क्रीड़ा वा विहारके लिये होता है। पुराणोंमें चौबीस प्रकारके उपवन वर्णन किये गये हैं। बागमें केवल फल-फूलवाले वृक्ष होते हैं। यह उपवनसे छोटा होता है।

टिप्पणी—१ (क) *'बन बाग उपबन बाटिका'*—वाटिका फूलती है, बाग फलता है और वन पल्लवित होता है। यथा—*'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवित सोहत पुर चहुँ पास॥'* (१। २१२) (ख) प्रथम वन है, वनके आगे बाग, बागके आगे उपवन और उपवनके आगे वाटिका है। (ग) बाग, उपवन और वाटिकाके मध्यमें जलाशय होता है। यथा—*'मध्यबाग सर सोह सुहावा।'* अर्थात् ये सातों (वन, बाग, उपवन, वाटिका, सर, कूप और वापी) क्रम-क्रमसे एक-एकके सम्बन्धसे सोह रहे हैं। वनसे बागकी शोभा, बागसे उपवनकी और उपवनसे वाटिकाकी शोभा होती है। जलाशयसे ये सब सोहते हैं और इनसे जलाशय। (घ) ये वन-बाग आदि पुरके बाहरकी शोभा हैं। मिलान कीजिये—*'पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर रुचिर अँमराई॥ देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥'* (उ० २९)

टिप्पणी—२ *'नर नाग सुर गंधर्ब कन्या'* इति। (क) यहाँ राक्षसियोंको नहीं कहते। जो त्रिलोककी सुन्दरी हैं उनका यहाँ वर्णन है। यथा—*'देव यक्ष गंधर्ब नर किंन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि॥'* (१। १८२) (ख) *'मुनिमन मोहहीं'* अर्थात् मुनियोंका ज्ञान-वैराग्य छूट जाता है। ज्ञान-वैराग्य छूटनेसे मोह होता है। यथा—*'सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाके॥'* (१। १२९) (ग) ये सब स्त्रियाँ उस बाग-वाटिका आदिमें विहार कर रही थीं। क्योंकि सायंकालमें थोड़ा दिन रहे हनुमान्‌जी वहाँ पहुँचे थे। विहारका समय है। इसीसे *'बाग उपबन बाटिका'* कहकर उनके समीप इनको कहा।

नोट—२ यहाँ यह शङ्का करके कि 'इस समय तो लङ्कामें कोई मुनि था नहीं तब यहाँ *'मुनि मन'* के साथ वर्तमानकालिक क्रिया *'मोहहीं'* क्यों दी गयी?' इसका उत्तर यह दिया जाता है कि—(क) व्याकरणके अनुसार भूत और भविष्य अर्थमें भी क्रिया वर्तमानवत् विकल्पसे होती है। यथा—**'भूते भविष्यति च वर्तमानवद्वा', 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा॥'** (पाणिनि ३। ३। १३१) (ख) यहाँ इस समय श्रीहनुमान्‌जी मुनि हैं। यथा—*'देख्यो बर बापिका तड़ाग बागको बनाव रागबस भो बिरागी पवनकुमार सो॥'* (कवित्तरामायण ५। १) कवितावलीका *'राग बस भो'* ही मनका मोहित हो जाना है। *'मोहहीं'* से कामोद्दीपनका अर्थ यहाँ नहीं लिया जायगा, बल्कि 'आश्चर्यमें पड़ गये' यह अर्थ होगा। देवकन्याओंको राक्षसोंके पुरमें देखकर आश्चर्य हुआ।' (मा० त० सु०) इस समाधानके प्रत्युत्तरमें यह कहा जा सकता है कि देवकन्याओंके वहाँ होनेमें आश्चर्य क्यों होगा? यह सब जानते हैं कि देव-नर-नाग सभीकी कन्याएँ रावण ले गया था। यथा—*'देव यक्ष गंधर्ब नर किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल'''॥'* (बा० १८२) वस्तुतः *'मुनि मन मोहहीं'* कहकर उन कन्याओंका अतिशय सौन्दर्य दिखाया है। वे ऐसी रूपवती हैं कि मुनितक मोहित हो जायँ, औरोंकी कौन कहे!

टिप्पणी—३ *'गज बाजि'''बरनत नहिं बनै'* को छोड़ *'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा।'* से यहाँतक लङ्काकी सब वस्तुएँ जो वर्णन की गयीं शोभासम्पन्न हैं। अतएव उन सब ठौरोंमें शोभावाचक पद दिये। यथा—*'तहाँ जाइ देखी बनसोभा', 'नाना तरु फल फूल सुहाए', 'खगमृग बृंद देखि मन भाए।'* शैलकी शोभा भारी वन है और विशाल शब्द सुन्दरका भी वाचक है। यथा—*'सैल बिसाल देखि एक आगे', 'कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी।'* सब शोभायुक्त हैं इसीसे *'अति उतंग'* से यहाँतक बराबर शोभासूचक *'परम प्रकासा' 'सुन्दर' 'चारु' 'सोहहीं' 'मोहहीं'* शब्द आये हैं। राक्षसोंकी सेना और राक्षस शोभित नहीं हैं

वरन् भयानक हैं; अतएव उनकी शोभा नहीं कही। यथा—*'गज बाजि''''बरनत नहिं बनै'* और *'कहुँ माल देह'* से *'निसाचर भच्छहीं'* तक। इनमेंसे किसी चरणमें शोभावाचक पद नहीं लिखा।

कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।
नाना अखारन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥ २॥

अर्थ—कहीं-कहीं पर्वतके समान विशाल शरीरवाले अत्यन्त बलवान् पहलवान अत्यन्त बलसे गरज रहे हैं। वे अनेकों अखाड़ोंमें आपसमें एक दूसरेसे बहुत तरहसे भिड़ते (लड़ते) और एक दूसरेको ललकारते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) निशाचरके साथ तो यूथ कहा और *'माल'* को *'कहुँ'*। यद्यपि *'अतिबल'* दोनोंमें है, यथा—*'बहुरूप निसिचरयूथ अति बल।'* कारण यह है कि निशिचर बहुत हैं इससे उनके यूथ कहे और मल्ल कम हैं इससे इनको *'कहुँ'* कहा। हजारोंमें कोई एक पहलवान होते हैं, सब नहीं। (ख) *'देह बिसाल सैल समान'* से सूचित किया कि जैसे विशाल शैलपर भय छोड़कर हनुमान्‌जी चढ़े वैसे ही इनपर भी (कि जो विशाल शैल-समान हैं) चढ़ेंगे अर्थात् इनको धर दबावेंगे। हनुमान्‌जीके ऊपर प्रभुप्रताप है जो कालको खाता है, अतः ये राक्षसरूपी कालको खायेंगे। (ग) *'अति बल'* का भाव कि जैसी विशाल देह है वैसा ही विशाल बल है, इसीसे महाध्वनि करके गरजते हैं। (घ) यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

टिप्पणी—२ *'नाना अखारन्ह'* इति। नगरकी चारों ओरसे रक्षा करते हैं। प्रत्येक दिशामें अनेक अखाड़े हैं। **'बहुबिधि'** से भिड़ते हैं अर्थात् अनेक दाँव-पेंच करते हैं, एक-एकको डाँटते हैं, यह पहलवानोंकी चाल है। यथा—*'गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं', 'गर्जत तर्जत सनमुख धावा'।*

छन्द—करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥

अर्थ—भयङ्कर शरीरवाले करोड़ों योद्धा यत्न करके नगरकी रक्षा चारों दिशाओंमें करते हैं। कहीं भैंसा, कहीं मनुष्य, गाय, गधा और कहीं बकरा दुष्ट निशाचर खा रहे हैं।

टिप्पणी—१ (क) नगरकी रक्षा सबके पीछे लिखकर जनाया कि चतुरङ्गिणी सेना, निशाचरयूथ, मल्ल और भट—ये सब नगरकी रक्षा करते हैं। चार प्रकारके रक्षक हैं, चारोंको पृथक्-पृथक् छन्दके एक-एक चरणमें कहा और उत्तरोत्तर विशेष कहा। पदचरसे निशिचरयूथ प्रबल, इनसे मल्ल प्रबल और मल्लसे भट प्रबल हैं। (ख) *'करि जतन'* इति। यत्न यह कि कोई मार्गमें बैठकर, कोई आकाशमें, कोई गुप्त, कोई प्रकटरूपसे रक्षामें तत्पर हैं। वा यत्न यह कि चतुरङ्गिणी सेनाकी व्यूहरचना बाँधे हैं। पूर्वद्वारपर दस हजार भट, दक्षिणपर एक लक्ष भट, पश्चिम द्वारपर दस लक्ष और उत्तर द्वारपर शतकोटि भट हैं—यह जो वाल्मीकीयमें लिखा है उसे गोस्वामीजीने एक शब्द *'कोटिन्ह'* से सूचित कर दिया है। (ग) *'चहुँदिसि'* का अन्वय सबमें है अर्थात् चारों ओर सुन्दर नगर बहुविधि बना है, नगर चारों ओरसे सुन्दर है, चतुरङ्गिणी सेना चारों ओरसे रक्षा करती है, वन-बाग आदि चारों ओर सोह रहे हैं, चारों ओर समुद्र हैं, आगे दिये हुए मिलानसे यह भाव सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि जैसी शोभा चौक आदिकी वर्णन की है वैसी चारों ओर है; बीचमें किला है। मिलान कीजिये—*'पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥'*, *'हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिउ पासा॥'*, *'करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं॥'*, *'फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास।'* और *'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा।'*

(पं० रामकुमारजीका मत है कि *'कहुँ'* पद *'माल'* के विषयमें है। *'कहुँ माल'* पूर्व कहकर यहाँ उन्हींके सम्बन्धमें *'कहुँ'* पद दिया; जैसा अब भी पहलवान कसरतके बाद जलेबी आदि खाते हैं वैसे ही ये मल्ल महिष आदि खाते हैं। और मा० त० सु० का मत है कि *'कहुँ'* पद यहाँ कौतूहलसूचक है। कहीं-कहीं यही काम कौतूहलपूर्वक हो रहा था। यहाँ *'महिष मानुष भच्छहीं'* यह वाक्य सामान्य

रूपसे संपूर्ण लङ्कावासियोंके भक्ष्यपदार्थोंका सूचक है। *'कोटि'* शब्द असंख्यवाची है)।

टिप्पणी—२ (क) *'भच्छहीं'* से कच्चा खाना जनाया। महिष मनुष्यादि सब जीवित खड़े हैं, इन्हें पकड़-पकड़कर खा जाते हैं। इसीसे *'खल'* कहा। यदि जीता न खाते तो मांस खाना लिखते। (ख) राक्षसोंकी चार क्रियाएँ लिखी हैं—गर्जहीं, तर्जहीं, रक्षहीं और भक्षहीं। गरजकर तर्जन करनेसे भय उत्पन्न होता है, इसीसे गर्जहीं कहकर तर्जहीं कहा। रक्षा कहकर तब भक्षण कहनेसे राक्षसोंका स्वामिधर्म दिखाया कि प्रथम स्वामीका कार्य कर लेते हैं, तब खाते हैं।

प० प० प्र०—रावणके बन्दीखानेमें तो सभी लोकपालादि देवता हैं। ब्रह्मा और शिवको भी नित्य पुजानेके लिये आना पड़ता है तब किसका भय था जो नगरकी रक्षाके लिये इतने रक्षक चारों दिशाओंमें रहते हैं? शूर्पणखाके वचनसे सिद्ध होता है कि खरदूषणवधतक यह बात न थी। यथा—*'देस कोष कै सुरति बिसारी।'''सुधि नहिं तव सिर पर आराती।'* (३। २१। ६—८) इससे अनुमान होता है कि सीताहरणके पश्चात् यह प्रबन्ध किया गया है। कहा ही है *'पर द्रोही कि होहि निस्संका।'* यह वचन त्रैलोक्य-विजयी रावणमें भी चरितार्थ हुआ (अथवा, शत्रुओंसे कभी निश्चिन्त न रहना चाहिये। देवता वैरी हैं ही; न जाने कब अवसर पाकर चढ़ आवें। शत्रु न भी हो तब भी सेना आदिकी शिक्षा आदि शिथिल न पड़ने देना चाहिये)।

वि० त्रि०—छन्दकी आलोचनासे यह पता लगता है कि लङ्कामें दो बातोंकी कदर थी, एक बलकी और दूसरे सुन्दर स्त्रीकी। स्त्री सुन्दरी होनी चाहिये, आप चाहे कुरूप ही क्यों न हों। सुन्दरी मिलनेपर जाति आदिका कोई विचार नहीं, यथा—*'नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं।'* आज भी आसुरी सम्पत्‌वाले इसका कोई विचार नहीं करते। कुत्तेकी नसलका विचार करते हैं, घोड़ेकी नसलका विचार करते हैं पर अपनी नसलका विचार नहीं करते।

एहि लागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही॥ ३॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी कथा इसलिये कुछ थोड़ी-सी (संक्षिप्त) कही कि रघुवीरके बाणरूपी तीर्थमें शरीरको छोड़कर ये मोक्ष पावेंगे, यह निश्चय है*॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'कछु एक'* का भाव कि कोट, पुर, चतुरङ्गिणी सेना, निशिचरयूथकी सेना, वनादिकी शोभा, त्रैलोक्यसुन्दरी, 'माल', पहलवानोंकी कसरत, नगरकी रक्षा और राक्षसोंका भक्ष्य और भक्षण ये दसों बातें जो यहाँ कही गयीं वे सब एक-ही-एक चरणमें लिखी गयीं और अन्तमें राक्षसोंकी मुक्तिका निश्चय कहा सो भी एक ही चरणमें। (ख) *'एहि लागि'* का भाव कि अधर्मियोंका चरित्र न वर्णन करना चाहिये, कुछ थोड़ा-सा जो कहा उसका कारण बताया। (ग) श्रीरामजी संग्राममें सबका वध करेंगे, अतएव *'रघुबीर'* कहा। (घ) *'सही'* का भाव कि तीर्थमें शरीर छूटनेसे निश्चय ही मुक्ति होती है तथा रामबाणसे मरनेपर भी मुक्ति निश्चय प्राप्त होती है। अथवा, रामचन्द्रजीने निशिचरवधकी प्रतिज्ञा की है यथा—*'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह'* (आ०) और रावणने रामबाणसे मरनेकी प्रतिज्ञा की है; यथा,—*'तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊँ॥'* अतएव राक्षसोंकी मुक्ति निश्चित है। सुन्दरकाण्डसे लेकर लङ्कातक बाणद्वारा सद्गति दिखायी है। अतः यहाँ *'सर तीरथ'* द्वारा मुक्ति कही।

मा० त० सु०—राक्षसोंकी मुक्ति मानसमें दो प्रकारसे कही गयी है। एक तो *'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान।'* (खरदूषणादि) दूसरे रामबाणसे मरनेसे। जिनके आचरण असुरोंके-से हैं वे सब राक्षस ही हैं। कलिकालमें रामबाणसे तो ये मरने योग्य नहीं हो सकते। उनके लिये 'रामनाम' उपाय है, यह बालकाण्ड नामवन्दनामें बता आये हैं। श्रीहनुमान्‌जीको भी रामबाणकी उपमा दे आये हैं। इस

* वीरकविजी 'सही' का अर्थ 'शुद्ध' करते हैं अर्थात् 'शुद्ध गति (मोक्ष) पावेंगे।'

काण्डमें जो राक्षस इनके हाथसे मरेंगे वह भी *'रघुबीर सर तीरथ'* में ही मरे हुए समझे जायँगे। इससे सिद्ध हुआ कि ये सब राक्षस पूर्वजन्मके बड़े सुकृती हैं, यद्यपि इस शरीरमें उनके आचरण निन्द्य हैं।

प० प० प्र०—रामबाणरूपी तीर्थमें तन त्यागकर सद्गति पानेका लाभ अरण्यकाण्डसे ही प्रारम्भ हो गया। विराध, मारीच, कबन्ध रामसरतीर्थमें मरे। रावणवध हो जानेपर यह तीर्थ गुप्त हो जायगा। रावणने जो गीधराजके सम्बन्धमें कहा था कि *'मम कर तीरथ छाँड़िहि देहा।'* (३। २९। १४) वह असत्य हो गया। कारण कि श्रीरामजीने जटायुसे कहा है कि *'तनु राखहु ताता।'* (३। ३१। ५)

टिप्पणी—२ (क) ग्रन्थकारने जहाँ-जहाँ नगरका वर्णन किया वहाँ-वहाँ 'सुरवास' भी कहा, यथा—*'बिप्रभवन सुरभवन सुहाए', 'हाट बाट मन्दिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा॥'* और *'तीर तीर देवन्हके मन्दिर'।* पर लङ्कावर्णनमें 'सुरवास' न कहा। कारण कि लङ्कामें तो देवता स्वयं ही हाथ जोड़े हुए खड़े रहते हैं, सेवा-पूजा कौन करेगा? यथा—*'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥'* (२०। ७) यह ग्रन्थकारका सँभाल है। (ख) लङ्काकी सभी वस्तुएँ अद्भुत हैं। इससे वर्णन नहीं हो सकतीं। इसीसे आदिमें *'गिरिपर चढ़ि लंका तेहि देखी। कहि न जाइ'* यह कहा। सर्वत्र उसकी अद्भुतता कही है। यथा—*'अति दुर्ग बिसेषी', 'खाईं सिंधु गम्भीर अति', 'कनककोट बिचित्र', 'बहुरूप निसिचर यूथ अति बल·····', 'गयउ दसानन मन्दिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं', 'रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ'* और *दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥'*

'जामवंतके बचन सुहाए' से यहाँ *'रघुबीर सर तीरथ'* तक *'लाँघत भयउ पयोधि अपारा'* यह प्रसङ्ग है।

नोट—१ *'कछु एक है कही'* हेतु-सूचक बात कहकर संक्षेपमें कहनेके कारणका समर्थन करना कि *'रघुबीर सर·····' 'सही'* इससे विस्तारकी आवश्यकता नहीं, (मोक्ष पायेंगे इससे इतना भी कह दिया), 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है। *'रघुबीर सर'* उपमेय और तीर्थ उपमानकी एकरूपतामें 'सम अभेदरूपक अलङ्कार' है। (वीरकवि)

'लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा'—प्रकरण

दोहा—पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पैसार॥ ३॥

शब्दार्थ—**पैसार** (सं० पदसरण)=प्रवेश।

अर्थ—नगरमें बहुतसे रक्षक देखकर कपिने (अपने) मनमें विचार किया कि अत्यन्त छोटा रूप धारण करूँ और रात्रिमें नगरमें प्रवेश करूँ॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुर रखवारे देखि बहु'* इति। यथा—*करि जतन भट कोटिन्ह।'* (ख) विचार करनेका भाव कि हनुमान्‌जी राक्षसोंसे डरते नहीं, यथा—*'तिन्हकर भय माता मोहि नाहीं।'* डरते तो लड़ने कैसे जाते? पर उन्होंने विचार किया कि 'जबतक 'रामकाज' सिद्ध न हो जाय तबतक हमें कोई न जाने। दर्शन किये बिना निशिचरोंसे प्रथम ही उलझना उचित नहीं क्योंकि स्वामिकार्यमें विलम्ब होगा।' (ग) *'अति लघुरूप'* का भाव कि विशाल रूपसे प्रवेश न पावेंगे और लघुरूपसे भी निर्वाह नहीं देख पड़ा। अतएव *'अति लघु'* रूपका विचार निश्चय किया। (घ) *'निसि नगर करौं पैसार'* का भाव कि दिनमें अति लघुरूपसे भी निर्वाह नहीं, अतएव रातमें प्रवेश करनेका निश्चय किया जिसमें कोई न देखे।

टिप्पणी—२ *'पइठार'* शब्दसे बदलकर यहाँ गोस्वामीजीने *'पैसार'* कहा, यह भी भावगर्भित है। पुरमें प्रवेश करनेके लिये हनुमान्‌जीने अपने इष्टको बदला, *'नरहरि'* का स्मरण किया, काल बदला अर्थात् दिनमें पहुँचे पर दिनके बदले रात्रिमें प्रवेश किया और रूप बदला अर्थात् *'मसक'* समान बने; अतएव ग्रन्थकारने भी अपना शब्द बदल डाला 'ठ' की जगह 'स' कर दिया। *'कीन्ह बिचार', 'अति लघुरूप धरौं'* और *'निसि'* इन पदोंसे रक्षकोंकी परम सावधानता दिखायी।

नोट—१ वाल्मी० स० २ में इनके विचार हैं। उनमेंसे श्रीसीताजीके पता लगानेके विषयमें जो उपाय सोचे वे यों हैं—'इस रूपसे मैं नगरमें प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि क्रूर और बलवान् राक्षस इसकी रक्षा कर रहे हैं। श्रीजानकीजीका पता लगानेके लिये इन पराक्रमी योद्धाओंको मुझे धोखा देना पड़ेगा। इस बड़े कार्यकी सिद्धिके लिये रातमें प्रवेश करना उत्तम होगा और रूप ऐसा होना चाहिये कि कभी दिखायी पड़ूँ और कभी छिप सकूँ। रावणवधके इच्छुक श्रीरामजीका काम व्यर्थ हो जा सकता है यदि राक्षस मुझे देख लें। यहाँ राक्षसरूपमें या और किसी भी रूपमें कोई मनुष्य नहीं रह सकता, जिसे राक्षस जान न लें! छिपकर वायु भी यहाँ नहीं घूम सकता, ऐसा मैं समझता हूँ। इस लङ्कामें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे ये भयानक राक्षस न जानते हों। यहाँ यदि मैं अपने रूपमें छिपकर भी रहूँ तो मार दिया जाऊँगा और स्वामीका कार्य नष्ट हो जायगा। इस कारण मैं अपना छोटा रूप बनाकर श्रीरामजीके मनोरथसिद्धिके लिये रात्रिमें लङ्कामें प्रवेश करूँगा। '**तदहं स्वेन रूपेण रजन्यां ह्रस्वतां गतः। लङ्कामभिगमिष्यामि राघवस्यार्थसिद्धये॥**' (४६) 'रातको रावणकी नगरीमें प्रवेश करूँगा, यद्यपि वहाँ प्रवेश करना कठिन है। मैं समस्त घर ढूँढ़कर श्रीसीताजीका पता लगाऊँगा।' (सर्ग २ श्लोक ३३—४८)'—ये सब विचार और निर्णय '*कपिमन कीन्ह बिचार।''''पैसार।*' से ग्रन्थकारने सूचित कर दिये हैं।

नोट—२ (क) दिनमें प्रवेश करना कठिन है, इस शंकाके निवारणार्थ कपिका मनमें विचार करना कि '*अति लघुरूप धरौं निसि*' वितर्क सञ्चारी भाव है। '*अति लघु रूप*' क्या और कैसा धरा, यह अगली अर्धाली '*मसक समान*' में देखिये। (ख) यह दोहा दोहरा-मिश्रित है। (ब्र० चं०)

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥ १॥

अर्थ—कपि (हनुमान्‌जी) '**मसक**' समान रूप धारण करके नृसिंहजीके स्मरण करके लंकाको चले॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) '***मसक***' लघुरूपकी अवधि है, अन्तिम सीमा है। यथा—'***तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता।***' (७। ९१। ५) रातमें देख नहीं पड़ता। अतएव '***मसक समान रूप***' धरा। इस ग्रन्थभरमें '***मसक***' शब्दका अर्थ मसा या मच्छड़ है। यथा—'***मसक दंस बीते हिम त्रासा***' '***मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन।***' (७। १२२) और '***मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई।***' (अ० २३२) '***समान***' शब्द देकर जनाया कि मच्छड़ नहीं बन गये, वानर ही रहे पर मशक-समान छोटे हो गये। (ख) लोग सन्देह करते हैं कि अंगूठी कैसे पास रही वह तो मच्छड़से बड़ी है। इसका उत्तर यह है कि मुद्रिका भी कपिके रूपके अनुकूल छोटी हो गयी; जैसे वामनरूपके अनुकूल दण्ड बढ़ गया। यथा—'***बड़ो गहे तें होत बड़ ज्यों बावन कर दण्ड। श्रीप्रभुके सँग-सो बढ्यो, गयो अखिल ब्रह्मंड॥***' (दोहावली ५३२)

(भगवान्‌के अस्त्र-शस्त्र आयुध, वस्त्र-भूषण सभी दिव्य एवं चिद्रूप हैं और उनमें सब शक्ति है। वे जो रूप चाहें धारण कर सकते हैं। अणु समान सूक्ष्म और छोटे हो सकते हैं। श्रीरामजीकी मुद्रिका भी साक्षात् चिद्रूपा चैतन्यस्वरूपा थी। श्रीसीताजीसे इसने बातें कीं। गीतावली भी इस बातकी प्रमाण है यथा—'***कियो सीय प्रबोध मुदरी दियो कपिहि लखाउ।***' (गी० ५। ४) जो मणिमुद्रिकाका बात कर सकती है, वह यदि घट-बढ़ भी सकती है, सूक्ष्म रूप धारण कर लेती है तो इसमें आश्चर्यजनक क्या है?

नोट—१ काष्ठजिह्वा स्वामी लिखते हैं,—'***हनुमत तहँ लघु रूप बने। अनिमाके परभाव जने॥ अपुना जसके तस ही हैं पै लोगन छोट सरूप गने। अनिमाके प्रभाव ही से तौ निकट वस्तुमें दूर पने॥ कोउ बिडाल सम कोउ मसक सम कहत तहाँ सन्देह जने। बड़ी नजर काहूकी छोटी भये नजर के भेद घने॥ घर-घर लखत अलख बनि अपुना जस ईश्वर सब माँहि सने। मिलत जतनसे वह पतालको पानी जैसे मिलत खने॥ मिली महाविद्या श्री सिय जू मुद्रा श्रुति परमान तने। बन उजारि पुर जारत कपिबर गह-गह देव निसान हने॥***' (अयोध्याबिन्दु ७८। १—४) श्रीहनुमान्‌जी अणिमा सिद्धिके प्रभावसे छोटे देख पड़ने लगे। यद्यपि वे ज्यों-के-त्यों वैसे ही बने हैं जैसे वे हैं। जैसे सूर्य यद्यपि पृथ्वीसे बहुत बड़ा है तब भी अति दूर और बहुत छोटा देख पड़ता है। तात्पर्य यह कि जब वे जैसे-के-तैसे ही हैं तब मुद्रिकावाली शङ्का ही कहाँ रह जाती है? केवल दूसरोंके

लिये वे सूक्ष्म हैं, अदृश्य हैं, वास्तवमें नहीं।

नोट—२ *'मसक समान'* इति। (क) यहाँ अन्य बृहद्रूपोंकी व्यावृत्तिके लिये *'मसक'* के साथ 'समान' पद लगा दिया। अभिप्राय यह है कि अत्यन्त छोटा रूप बन गये पर रहे वानर ही। यह बात पूर्वापर प्रमाणोंसे सिद्ध है। यथा—*'अति लघुरूप धरौं निसि', 'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।'* वाल्मीकिजीने भी ऐसा ही प्रथम सर्गमें कहा है, यथा—'**ततः शरीरं संक्षिप्य तन्महीधरसंनिभम्।**' (२०८) फिर सर्ग २ में श्रीहनुमान्‌जीके रात्रिमें लङ्कापुरीमें छोटे रूपसे प्रवेश करनेका विचार लिखकर वे कहते हैं, '**सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः। वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥**' (४९) सूर्यके अस्त होनेपर रात्रिमें हनुमान्‌जीने अपना छोटा रूप बनाया, अपनी देहको संक्षिप्त कर दिया। वे बिल्लीके बराबर हो गये। इससे भी सिद्ध है कि वानर ही बने रहे, केवल वानरशरीरको बहुत छोटा कर लिया। सम्भवतः वाल्मीकीयका मत लेकर ही वाल्मीकीयपर भाष्य लिखनेवाले पं० शिवलाल पाठकजीने 'मसक' का अर्थ 'बिल्ली' किया है। बिल्ली बराबर शरीरमें तो मुद्रिकाका मुँहमें रहना सन्देहात्मक हो ही नहीं सकता। पर इतनी बात स्मरण रखनेकी अवश्य है कि वाल्मी० रा० में *'अति लघु'* के पर्यायी शब्द न होकर केवल '**देहं संक्षिप्य**' कहा है जिसमें बिल्लीका अन्तर्भाव हो सकता है। पर मानसके 'अति लघु' में बिल्लीका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। *'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन'* के प्रमाणसे लघु तो मच्छड़ ही होगा। अध्यात्मरामायणमें सूक्ष्म वानररूप धारण करना कहा है। यथा—'**धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान्।**' (५। १। ४२) यही भाव वहाँ भी है। (ख) वीरकविजी लिखते हैं कि 'योरपके नारवे प्रदेशके उत्तरी भागमें अब भी गौरैया पक्षीके बराबर मसा होते हैं। गौरैयाके बराबर वानररूप होकर मुद्रिका साथ रखना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं। मा० त० सु० कारका भी मत है कि रूपकी लघुता दरसानेके लिये अतिशयोक्ति अलङ्कारमें यहाँ अतिलघुतासूचक 'मसक समान' पद दिया। यह कवि और काव्यका स्वभाव ही है। वाल्मीकीयमें लिखा है कि उन्होंने एक अद्भुत बिडालवत् रूप धारण किया, यथा—'**वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः।**' (२। ४९) यहाँ भी 'वृषदंशक' के साथ '**मात्र**' प्रत्यय अन्य बृहद्रूपके अर्थकी व्यावृत्तिके लिये प्रयुक्त हुआ है। (घ) हनुमन्नाटकसे भी उपर्युक्त भावकी पुष्टि होती है, यथा—'**अष्टाङ्गुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशाङ्गुलः। बाहू मे पश्य भो नाथ कथं रत्नाकरं तरे॥**' (६। २)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'मसक' का अर्थ मच्छड़ है। हनुमान्‌जीने मच्छड़का रूप नहीं धारण किया। मच्छड़-जितने छोटे हो गये। वाल्मीकिजी कहते हैं, '**वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः**'। वृषदंशक उस मच्छड़को कहते हैं जो गाय-बैलको लगते हैं, हम लोग उसे 'डंस' कहते हैं। वह बड़ी जातिका मच्छड़ है, सो हनुमान्‌जीका रूप तो इसके बराबर और आकृति बन्दरकी, इसलिये वाल्मीकिजी अद्भुत दर्शन कहते हैं। हनुमन्नाटकमें '**अष्टाङ्गुलमयः कायः पुच्छो मे द्वादशाङ्गुलः**' जो कहा है, वह उस समयका वर्णन है, जब हनुमान्‌जी रामजीके सम्मुख खड़े हुए। क्लिष्ट होना काव्यका दोष है, अतः मशकका प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थके ग्रहणमें कोई हेतु नहीं। जिस लघिमा सिद्धिसे शरीरकी हड्डी छोटी की जा सकती है, उससे क्या अङ्गूठी नहीं छोटी की जा सकती?

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि यदि हनुमान्‌जी मसक ही बन जाते तो गोस्वामीजी वैसा स्पष्ट लिख देते, *'मसक समान'* न लिखते। *'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ', 'बिप्ररूप धरि बचन सुनाए' 'बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत'* इत्यादि विप्ररूप बन जानेपर कहा है, वैसे ही यहाँ *'मसकरूप हनुमान तब धरी'* लिखते।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि जिस देशके जलवायुके अनुकूल जैसे ह्रस्व-दीर्घ आकारके मनुष्य होते हैं प्रायः वैसे ही वहाँके पशु-पक्षी, कीट, पतङ्ग, सरीसृप, वृक्ष, गुल्म लतादि होते हैं। जैसे अफरीकाके घने प्रदेशवाले आदमखोर जङ्गली विशालकाय होते हैं वैसे ही वहाँके जङ्गम, स्थावर, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि भी होते हैं। यूरोप भ्रमणकारियोंने नारवे प्रदेशमें भारतीय गौरैया पक्षीके बराबर मच्छड़ इसी

शताब्दीमें देखे हैं। डच न्यू गायनामें तीन-तीन हाथके लम्बे चूहे पाये जाते हैं और मलाया द्वीपमें कुछ ऐसे विचित्र पतिंगे मिलते हैं जो छिपकलीको भी पकड़ कर निगल जाते हैं। इसी प्रकार विचार कर लेना चाहिये कि जिस लङ्काके निवासी राक्षसगण इतने लम्बे-चौड़े होते थे वहाँके मशक भारतीय बिल्ली-कुत्तेके बराबर भी न होते होंगे। श्रीहनुमान्‌जीने तत्कालीन लङ्काके मशकके समान रूप धारण किया, भारतीय मशकवत् नहीं, क्योंकि उस समय वे लङ्कामें थे, भारतमें नहीं थे। श्रीहनुमान्‌जीने भगवत्प्रेरणासे तद्देशीय मशक-समान वानर बननेकी चूक की, लङ्कामें इतने छोटे बन्दर हो नहीं सकते, इसीसे लङ्किनीने चोरी पकड़ ली। लङ्किनीको ब्रह्माके वरदानका निश्चय करानेके लिये यह गलती हरि-इच्छासे हुई।

प० प० प्र०—इस चौपाईके प्रत्येक चरणमें एक-एक मात्रा न्यून है। अरण्यकाण्ड १७ (१९) *'तब खिसिआनि राम पहिं गई।'* में बताया जा चुका है कि इसमें काव्यदोष नहीं है। यह कविकी एक अनोखी भावदर्शक कला है। यहाँ चौपाईके पढ़नेमें गति-भङ्ग और लय-भङ्ग करके बताया है कि इस चौपाईके पढ़ते-पढ़ते पाठक आश्चर्यचकित होंगे कि हनुमान्‌जी जो कालको खानेमें समर्थ हैं, ऐसे (मसक-समान) क्यों बन गये। यहाँ आश्चर्यका भाव और उसके अनुभाव अध्याहृत रखकर कथाका संक्षेप करना हेतु है। यत्र-तत्र एक मात्रा न्यून करके भीति, आश्चर्य, भक्तिरस इत्यादि विविध भावोंका दिग्दर्शन किया गया है [कविवर व्रजचन्द्रजी लिखते हैं कि *'मसक समान……धरी'* चौपाईका ३३५ वाँ भेद है। *'लंकहि चलेउ……'* ३६३ वाँ भेद है]।

टिप्पणी—२ *'सुमिरि नरहरी'* इति। नृसिंहजीके स्मरणमें भाव यह है कि जैसे हिरण्यकशिपुने सब प्रकारसे मृत्युका मार्ग रोका, ब्रह्मासे ऐसा वर माँग लिया तो भी वहाँ नृसिंहजीने मृत्युके लिये रास्ता निकाल दिया था; वैसे ही यहाँ पुरके रक्षकोंसे लङ्काका रास्ता रुका है, नृसिंहजी हमको रास्ता देंगे। नृसिंहजीके स्मरणसे रामोपासकोंको कोई दोष नहीं है। रामकार्यके लिये ही स्मरण किया है, जैसे सिन्धुके लाँघनेके समय सबको माथा नवाया था और गोस्वामीजीने भी ग्रन्थके प्रारम्भमें सबकी प्रार्थना की। सब अवतार श्रीरामजीके ही हैं। यथा—*'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपुधरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥'* (६। १०९) *'हिरन्याच्छ भ्रातासहित मधुकैटभ बलवान। जेहि मारे सोइ अवतरेउ।'* (६। ४७) इस प्रकार सबमें श्रीरामको दिखाया। पुन: भयनिवारणके समय रामजीको 'नरहरि' लिखा है। यथा—*'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनिभयहरन।'* (१। २०८) *'अवध-नृपति दसरथ के जाए। पुरुषसिंह बन खेलन आए॥ जिन्हकर भुजबल पाइ दसानन। अभय भए बिचरहिं मुनि कानन॥'* (३। २२) इसी तरह यहाँ भी भयहरणका प्रसङ्ग है। कोई देख न ले यह भय है क्योंकि देख लिये जानेसे रामकार्यमें बाधा पड़ेगी, श्रीसीताजीका पता पाना कठिन हो जायगा, अत: नरहरिका स्मरण किया। भयङ्कर राक्षसों या रावणका भय नहीं है। उन सबोंके लिये तो वे अपनेको अकेले ही समर्थ जानते हैं।

नोट—३ 'नरहरि' के स्मरणके और भाव ये हैं—(क) नरहरि=नरोंमें सिंह, पुरुषसिंह, श्रीरघुनाथजी। यथा—*'पुरुषसिंह दोउ बीर'*। इस तरह नरहरिजी श्रीरामका ही नाम हुआ। (ख) नरहरि=नृसिंहजी जो प्रह्लादजीके लिये खम्भसे प्रकट हुए। यह श्रीरामजीका रूपान्तर अवश्य है तब इसमें इसका स्मरण क्यों किया? इसलिये कि श्रीरघुनाथजीका रूप दयालु और श्रीहनुमान्‌जीको उपद्रव करना अभीष्ट है। अतएव लङ्कापुरीके भीतर प्रवेश करनेमें उन्होंने विकराल नृसिंह रूपका स्मरण किया (पं०, पाँ०)। (ग) 'नर' से लक्ष्मणजी और 'हरि' से श्रीरामजीका ग्रहण कर लें तो *'नरहरी'* से श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंका स्मरण करना पाया जाता है। (पं०)। **'नरोंमें सिंह'** से भी दोनों भाइयोंका स्मरण अभिप्रेत है। (मा० म०) (घ) रावणने अपनी मृत्यु नर और वानर दोनोंसे माँगी है। यथा—*'बानर मनुज जाति दुइ बारे।'* अतएव 'नर' श्रीरामजी और 'हरी' (वानर) सुग्रीव दोनोंका स्मरण किया। ये दोनों ही हनुमान्‌जीके स्वामी हैं? (पाँ०) अथवा, (ङ) नृसिंहका स्मरण किया कि हमें अपनी आकृति और बल दीजिये कि हम क्रोधाग्निसे निशिचरोंसहित लङ्काको भस्म कर सकें। (पं०) ऐसा क्रोध किसी और रूपमें प्रकट नहीं किया गया। (च) श्रीहनुमान्‌जीकी

'जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥' इस प्रसिद्ध घोषणाके अनुसार 'नरहरि' का अर्थ नर (श्रीराम, श्रीलक्ष्मण)। हरि (वानरराज सुग्रीव) ले सकते हैं। (छ) मा० शं० कार लिखते हैं कि लङ्कामें निशाचरोंको मारना, गाल फाड़ना, मुण्ड तोड़ना, आँतें निकालना है, इसमें रुधिरादिके स्पर्शसे नृसिंहजी नहीं घिनाते; अतः उनका स्मरण किया। राजकुमाररूपके लिये यह कार्य अपावन समझा। (ज) मा० शं० कार लिखते हैं कि निज इष्टदेवको छोड़ दूसरेमें रमे इसीसे लङ्किनीने विरोध किया और निज इष्टदेवमें बोध कराया जिसमें कार्य निर्विघ्न हो। यथा—*'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥'* अतएव आगे लिखते हैं कि *'पैठा नगर सुमिरि भगवाना'* (नोट-मा० त० सु० कार इसका निषेध करते हैं कि ऐसा कहना भूल है। क्योंकि पहले भी तो प्रबल विघ्न हुए थे, वहाँ क्या कहा जायगा)। (झ) श्रीरामजीके स्मरणमें प्रह्लादजी अद्वितीय हुए। उनके लिये नृसिंह रूप धारण किया था। ये भी नाम-स्मरणमें अद्वितीय हैं।

☞ श्रीहनुमान्‌जी श्रीराम-रूप-नामके परमानन्य हैं। श्रीकृष्णजीने इनकी अनन्यता प्रकट करनेके लिये इनको दर्शन देनेके लिये रामरूप धारण किया, पर वंशी लगी रहने दी। जब हनुमान्‌जी आये और वंशी देखी तो उन्होंने वंशी लेकर फेंक दी तब प्रणाम किया। गरुड़ और सत्यभामाके गर्वहरणकी कथा प्रेमियोंने कल्याणमें पढ़ी ही होगी। इस अनन्यताके विचारसे *'नरहरी'* के स्मरणका समाधान उपर्युक्त रीतिसे किया जाता है। नहीं तो श्रीराम **'सर्ववाचस्य वाचकः'** हैं, सब उन्हींके नाम और रूप हैं। ध्रुवपति, प्रह्लादपति, गजेन्द्रमोक्षदाता इत्यादि सभीको तो ग्रन्थकारने श्रीराम-नाम-वन्दना प्रकरणमें 'राम' नामहीसे याद किया है। देखिये, प्रह्लाद-सरीखा श्रीरामनामजापक भक्त नहीं हुआ कि जिन्होंने पत्थरसे भगवान्‌को प्रकट कराके छोड़ा; उन श्रीरामनामजापकके लिये ही तो 'नृसिंह' रूप श्रीरामजीने धारण किया था।

प० प० प्र०—मानसके *'कृपासिंधु नररूप हरि'* (बा० मं० सो० ५) और **'मायामनुष्यं हरिम्'**। (मं० श्लो०) इन आधारोंसे 'नरहरि' का अर्थ स्पष्ट है कि द्विभुज धनुर्बाणधारी श्रीरामचन्द्ररूप हरिका स्मरण किया।

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥ २॥

अर्थ—लङ्किनी नामकी एक राक्षसी (जो लङ्काकी रक्षामें तत्पर) थी। वह बोली कि मेरा निरादर करके (कहाँ) चला जा रहा है?॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) लङ्किनी नामसे सूचित किया कि यह लङ्कापुरी स्वयं है। 'निसिचरी' कहकर जनाया कि राक्षसीका रूप धारण किये हुए है। यथा—*'पुनि संभारी उठी सो लङ्का'*, **'तत्र लंकापुरी साक्षात् राक्षसी वेषधारिणी।'** (अ० रा० ५। १। ४३) उसका नाम और स्वरूप दोनों कहे। (ख) लङ्कामें घुसते ही लंकिनीने श्रीहनुमान्‌जीको रोका, यथा—*'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥ नाम लंकिनी ···· कह'।* इससे पाया जाता है कि वह पुरीसे बाहर फाटकपर रक्षाके निमित्त बैठी थी। यह बात उसके वचन—*'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा'*—से स्पष्ट हो जाती है। (ग) अत्यन्त लघु रूपसे प्रवेश करने लगे तब भी उसने देख लिया। इससे उसकी परम सावधानता दिखायी। पुरीके बाहर जितने रक्षक थे उनमें लङ्किनी प्रथम मिलती थी। रक्षकसे बिना पूछे उल्लङ्घन कर जानेसे उसका तिरस्कार होता है। हनुमान्‌जीने न तो पुरीकी पूजा की और न उसे प्रणाम ही किया; इसीसे उसने कहा कि मेरा तिरस्कार करता है, मेरा डर तुझे नहीं है?

नोट—१ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—**'नगरी स्वेन रूपेण ददर्श पवनात्मजम्।' सा तं हरिवरं दृष्ट्वा लंका रावणपालिता। स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना॥'** (५। ३। २०-२१) अर्थात् हनुमान्‌जीको नगरमें प्रवेश करते हुए स्वयं लङ्कानगरीने अपने रूपसे देखा। रावणद्वारा पालित लङ्कानगरी हनुमान्‌जीको देखकर स्वयं उठकर सामने आ खड़ी हुई···· परिचय पूछनेपर उसने बताया कि मैं इस नगरकी रक्षा करती हूँ, मैं स्वयं लङ्कानगरी हूँ। मेरा तिरस्कार करके कोई नगरमें नहीं जा सकता।—**'न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं नगरीमिमाम्।**

"'**अहं हि नगरी लंका स्वयमेव प्लवंगम॥**' (वाल्मी० ५। ३। २९-३०)

इन उद्धरणोंके '**स्वेन रूपेण**' और '**अहं हि नगरी लंका स्वयम्**' से स्पष्ट है कि यह 'लङ्किनी' लङ्काकी अधिष्ठात्रीदेवी है और 'विकृतानन' में 'निशिचरी' का भाव है; अर्थात् वह राक्षसीरूपसे रक्षा करती है। 'लङ्किनी' नाम देकर यह भी सूचित किया है कि लङ्काकी उत्पत्तिके साथ ही इसकी भी उत्पत्ति हुई। इसीसे वह अपनी रक्षा स्वयं करती आयी।—['एकसे अद्वितीय, 'छटी हुई' भी जनाया। (पाँ०)]

अध्यात्मरामायण सुं० १ में प्राय: सब विशेषण यहाँके मिलते हैं, यथा—'**धृत्वा सूक्ष्मं वपुर्द्वारं प्रविवेश प्रतापवान्। तत्र लंकापुरी साक्षाद्राक्षसीवेषधारिणी॥"कस्त्वं वानररूपेण मामनादृत्य लंकिनीम्॥ प्रविश्य चोरवद्रात्रौ किं भवान्कर्तुमिच्छति॥"हनुमानपि तां वाममुष्टिनावज्ञयाहनत्। तदैव पतिता भूमौ रक्तमुद्वमती भृशम्॥ उत्थाय प्राह सा लंका**"।' (४३—४७) ☞ रेखांकित शब्दोंको क्रमसे मानसमें देखिये—'*अतिलघुरूप, मसक समान*' (**धृत्वा सूक्ष्मम्**), '**राक्षसी**' (**निशिचरी**), '**मामनादृत्य**' (**मोहि निंदरी**), '**लङ्किनीम्**' (**नाम लंकिनी**), '**चोर**' (**चोरा**), '**मुष्टिना**' (**मुठिका**), '**हनत्**' (**हनी**), '**पतिता भूमौ**' (**धरनी ढनमनी**), **रक्तमुद्वमती**' (**रुधिर बमत**); '**उत्थाय सा लङ्का**' (उठी सो लंका)।

नोट—२ हनुमान्‌जीने 'निशि' (रात्रि) में पुरीमें प्रवेश किया, इस सम्बन्धसे यहाँ '*निसिचरी*' पद सार्थक है। निशिचरी है अत: निशामें चलनेवालेको देखा ही चाहे।

नोट—३ वाल्मीकीयके '**न शक्यं मामवज्ञाय प्रवेष्टुं**"'। और '**कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय।**' (२३) के भाव '*चलेसि मोहि निंदरी*' में आ गये। अर्थात् तू कौन है? किस कार्यसे यहाँ आया है? मेरा निरादर करके तू पुरीमें प्रवेश नहीं कर सकता। मुझे तूने कुछ न समझा? ये सभी भाव तीन ही शब्दोंमें आ गये।

प० प० प्र०—स्वयं लङ्काकी देवी होकर भी राजाकी आज्ञाका पालन एकनिष्ठ भावसे कर रही है। उसकी कर्तव्य-तत्परता देखकर उसके प्रति आदर उत्पन्न होता है और आजकलके धर्महीन स्वराज्यके संरक्षक गुप्त दलकी दक्षता तो जगत्प्रसिद्ध है कि एक राष्ट्रका एक महान् शत्रु दिनमें बम्बई ऐसे बड़े नगरके विमानतलपरसे अपना सब धन लेकर वायुयानमें बैठकर पाकिस्तानमें भाग जाता है और हमारे संरक्षक जान भी नहीं पाते।

नोट—४ '*नाम लंकिनी एक निसिचरी*' पायकुलक है। '*सो कह*"' चौपाईका १९८ वाँ भेद है। (ब्र० चं०)

टिप्पणी—२ नभ, जल, थल तीन ही स्थल जीवोंके रहनेके हैं और तीन ही मार्ग थे, तीनोंमें स्त्रियोंके ही द्वारा विघ्न हुआ; यह आश्चर्य हुआ। इससे उपदेश देते हैं कि ब्रह्मचारीको भवसागर पार होनेमें स्त्री विघ्नस्वरूप है। हनुमान्‌जी ब्रह्मचारी हैं, अत: सागर पार करके लङ्कामें प्रवेश करनेमें स्त्रियोंद्वारा ही विघ्न हुआ। पुन:, जैसे हनुमान्‌जीने इन तीनोंको जीतनेके बाद श्रीसीताजीको पाया, वैसे ही मायारूपी नारिके जीतनेपर ही जीव प्रभुकी भक्ति पाता है। जीवको शरणागत होनेमें ये बाधक होती हैं—'*तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।*', '*मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ*' (पाँ०)।

नोट—५ मानसतत्त्वभास्करमें लिखा है कि—जीव जब शरणागत होकर भक्तिकी प्राप्तिके लिये उद्यत होता है तब सत्त्व-रज-तम-रूप त्रिगुणात्मिका माया बाधा करने लगती है। इनके जीतनेपर भक्ति प्राप्त होगी। यहाँ सुरसा सत्त्वगुणी माया हुई, उससे हनुमान्‌जी मिलकर चले। सिंहिका तमोगुणी माया हुई जिसको उन्होंने नाश ही कर डाला। और लङ्का रजोगुणी माया हुई; इसे उन्होंने अधमरी कर डाला। इसी प्रकार जीवका कर्त्तव्य है कि रजोगुणसे निर्वाह मात्र प्रयोजन रखे, सत्त्ववृत्ति धारण किये रहे और तमोगुणसे सर्वथा अलग रहे।

पाँड़ेजी एक भाव और लिखते हैं कि स्त्री मायारूपिणी है—'*तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।*' इनमेंसे सुरसा देवताओंकी भेजी हुई स्वर्गकी माया हुई, समुद्रमें रहनेवाली सिंहिका पातालकी माया हुई और लङ्किनी भूलोककी माया हुई; इन तीनोंको जीतना मानो त्रैलोक्यकी मायाको जीतना है। जब इन तीनोंको जीते तब श्रीराम-भक्तिकी प्राप्ति हो; जैसे सुरसा आदिको जीतनेपर हनुमान्‌जीको

श्रीजानकीजीकी प्राप्ति हुई।

प० प० प्र०—सुरसा अन्तःकरणकी सात्त्विक धार्मिक वृत्तिका प्रतीक है। विषयासक्ति ही सुरसा है। इन्द्रियोंके देवता अन्तःकरणवृत्ति-(सुरसा-) को प्रेरित करेंगे। वह कहेगी इन्द्रियोंको दुर्बल करनेसे परमार्थ-प्राप्ति थोड़े ही होगी। इन्द्रियोंको उनका आहार देना धर्म है, न देनेसे पाप लगेगा। इस वृत्तिको जीतनेके लिये शरीर और बुद्धि दोनोंसे काम लेना होगा। इससे उत्तीर्ण होनेपर ही जीवका विवेकरूपी हनुमान् विहंगम मार्गमें अग्रसर हो सकता है। यह मार्ग अति समीपका और शीघ्रतम आक्रमण करने योग्य है। यह है शुकमार्ग। (वराहोपनिषद्) युक्ति सूझनेके लिये श्रीरघुवीरका सतत स्मरण करना चाहिये।

सात्त्विक विषयासक्तिको जीतनेपर मोहसागर लाँघनेमें जीव अतिवेगसे आगे बढ़ता है, तब उस विहंगम मार्गसे आगे जानेवाले जीवके मार्गमें तमोगुणनिवृत्तिरूपी सिंहिका विघ्न करती है। उसको तो मारना ही चाहिये, पर इसे मारनेके लिये शक्ति, युक्ति, धृति आदि अनेक सद्गुणोंकी आवश्यकता है। इस वृत्तिका कलेजा (मर्म) तो अज्ञान है जो आत्मस्वरूपमें साक्षात्कारसे ही नष्ट हो सकता है। सुषुम्नापथरूपी आकाशमार्गमें अनाहत चक्रमें (हृदयकमलमें) प्रवेश करके वहाँ आत्मज्योतिका साक्षात् करनेपर अज्ञानका नाश होता है। इस प्रकार अज्ञानरूपी छाया-ग्रहका विनाश किये बिना मोहसागर पार करना अशक्य है। अज्ञानका नाश होनेपर सिद्धियाँ सामने आती हैं। यदि साधक उनमें न फँस गया तो वह त्रिकूटगिरिपर जहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्नाका सङ्गम होता है, उस भ्रू-स्थानतक पहुँच सकता है। अब लङ्का-(मस्तक-) में प्रवेश करना है पर उसके चारों तरफ महान् दुर्ग, द्वारपर रक्षक और द्वारमेंसे जानेका मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है। यह है आज्ञाचक्र। यहाँ नरहरिरूपी सद्गुरुकी कृपासे ही प्रवेश हो सकता है। बड़े-बड़े हठयोगी यहाँसे लौट जाते हैं, या अहङ्कारादि राक्षसोंके कब्जेमें जाकर विनष्ट हो जाते हैं। अतः श्रीहनुमान्‌जीने 'नरहरि' का स्मरण किया।

यहाँ लङ्का दुर्गकी देवी बड़ी सजग है। वह आज्ञाचक्रके बीचमें ही द्वारका अवरोध करके बैठी है। उस चक्रकी शक्ति देखनेमें नहीं आती। उसको एक मुष्टिका लगाकर ही धरणीपर गिराना चाहिये, उसे मारनेसे काम नहीं चलेगा। जब वह जान लेगी कि यह साधक रामदूत है, भक्ति-सीताकी खोजमें जा रहा है तब प्रसन्न होकर आशीर्वाद देगी।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि जैसे श्रीहनुमान्‌जी समुद्रलङ्घनसे नभ, जल और थलकी निवासिनी तीन स्त्रियोंको जीतकर ही लङ्कामें प्रवेशकर श्रीसीताजीकी खोजमें प्रवृत्त हुए वैसे ही 'परमार्थ' पक्षमें प्रबल वैराग्यवान् होकर पहले रसनाको जीतना चाहिये। रसनाके देवता जलाधिपति वरुण हैं, इससे इसका जीतना समुद्रलङ्घनके समान है। रसना ही आहार देकर सब इन्द्रियोंके सहित देहसे प्रमाद कराती है, इसीसे इसके जीतनेके साथ-ही-साथ देहाभिमान भी जीता जाता है। देहाभिमानको सागर कहा भी है; यथा—***'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर***''***प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजन तनय***''' (वि० ५८)। रसना जीतनेमें तीनों गुणोंके सम्बन्धी तीन प्रकारके आहार कहे गये हैं। गीता १७। ८—१० देखिये। देहाभिमान जीतनेवाले विरक्तको प्रथम रामनामांकित मुद्रिकारूप राममन्त्रोपदेश रामरूप गुरुसे प्राप्त करना चाहिये। जैसे श्रीहनुमान्‌जीको मुद्रिकांकित रामनामके अर्थ रूप सातों काण्डके रचित चन्द्रमा मुनि और जाम्बवान्‌द्वारा प्राप्त हुए, वैसे ही मुमुक्षु भी गुरुमुखसे मन्त्रार्थ श्रवण करे। जैसे उसके बाद वे समुद्रलङ्घनमें तत्पर हुए वैसे ही यह भी देहाभिमान जीतनेमें लगे। जैसे वहाँ उन्हें सुरसा मिली वैसे ही इसे विद्यारूपी सात्त्विकी मायाका सामना करना पड़ता है। सात्त्विक आहारसहित इसे विद्या पढ़ना एवं सत्सङ्ग करना चाहिये। जिस प्रकार सुरसाका मुँह बढ़ने लगता है उसी प्रकार इसे भी विद्याकी अपेक्षा बढ़ती जाती है। जैसे सुरसाका मुख सौ योजनका हो गया, वैसे ही विद्याका भी विस्तार अनन्त है। यह दीनतारूपी लघुरूपसे विद्याके हृदयका तत्त्व ब्रह्मविद्याको जान उससे पृथक् हो जाय और साधनके लिये उद्यत हो, तब वह विद्या सुरसाकी तरह आशिष देती है। फिर तमोगुणी मायाका सामना करना पड़ता है। जलमें सिंहिका रहती थी, उसने श्रीहनुमान्‌जीकी छायाको खींचकर इनका गतिरोध किया! वैसे तामसाहङ्कारसे शब्दादि विषय होते हैं, वे खार जल रूप हैं; यथा—

'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।' (वि० १०२) विषयसम्बन्धसे रागद्वेष आदि मुमुक्षुका गतिरोध करते हैं। अतः यह उन्हें नाश ही करनेका प्रयत्न करे; आगे मुमुक्षुको रजोगुणी मायारूपी लङ्किनी मिलेगी। इसका विकार देह पोषण करना है। इसे प्रथम व्रतोपवास आदिसे वशमें करे, जिस प्रकार एक मुष्टिका मारकर श्रीहनुमान्‌जीने लङ्किनीको अधीन किया। तब लङ्किनी राम-कार्यमें सहायक हुई, वैसे ही स्वाधीन इन्द्रियोंके साथ देह भी परमार्थ-साधनमें सहायक होती है।

जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि* चोरा॥ ३॥
मुठिका एक महाकपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥ ४॥

अर्थ—अरे शठ (मूर्ख)! तू मेरा मर्म (भेद, स्वभाव) नहीं जानता (कि) जहाँतक (लङ्कामें छिपकर आनेवाले) चोर हैं वे मेरे आहार (भोजन) हैं॥ ३॥ महाकपि-(श्रीहनुमान्‌जी-) ने एक मुष्टिका (घूँसा) मारी, जिससे वह खून उगलती हुई पृथ्वीपर लुढ़क पड़ी॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'जानेहि नहीं·····'* इति। श्रीहनुमान्‌जी निर्भय चले जा रहे हैं; इसीसे वह कहती है कि मुझे नहीं जानते, यथा—*'निर्भय चलेसि न जानेहि मोही'* (आ० २९), *'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखौं अति असंक सठ तोही'॥* (सुं० २१) (ख) मर्म न जानना निरादरका हेतु है। न जाननेसे 'शठ' कहा† और फिर अपना मर्म बताती है कि *'मोर अहार·····'।* अर्थात् तू चोर है, चोरकी तरह चला जा रहा है और चोर मेरा आहार है। अपने आहारको सब चाहते हैं, अतः मैं भी चाहती हूँ कि कोई भी चोर आवे वह जाने न पावे, मैं उसे खा लूँ। (ग) *'लंक कर चोरा'* पाठ उत्तम नहीं है क्योंकि ऐसा कहनेसे लङ्कापुरीसे वह पृथक् हो जाती है, जो होना न चाहिये; क्योंकि वह तो स्वयं लङ्कापुरी ही है। *'जहाँ लगि'* का भाव कि जहाँतक पुरी है वहाँतकका चोर। (इससे जनाया कि जो पुरीमें न जाय, उससे उसे सरोकार नहीं।)

टिप्पणी—२—*'मुठिका एक महाकपि हनी·····॥'* इति (क) उसे मारा क्योंकि एक तो वह रामकार्यमें विघ्न किया चाहती है, राक्षसी है और भक्षण करनेपर उद्यत हुई। दूसरे उसने चोर कहा है। चोरको जो पहचान लेता है वा उससे जो बोलता है उसे चोर अवश्य मारता है।‡ अथवा, श्रीहनुमान्‌जीने विचारा कि सब्र करनेसे ठीक न होगा, राक्षस सुनेंगे तो शोर होगा, अतः मारा। (ख) *'महाकपि'* कहकर जनाया कि लङ्किनीके मारनेके लिये पहलेका-सा विशाल रूप कर लिया, यह आगे कबि स्वयं स्पष्ट कहेंगे, यथा—*'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।'* इससे यह सूचित होता है कि लङ्किनीका स्वरूप बहुत भारी था।

टिप्पणी—३ श्रीहनुमान्‌जीकी मुष्टिका लगनेसे मेघनाद आदि सब वीरोंको मूर्च्छाका होना कहा गया है,

---

* जहाँ लगि—ना० प्र० रा० गु० द्वि०, छं०, का०, मा० म०, भा० दा०। लंक कर-पं०, वै०, पाँ०। टिप्पणी १ (ग) देखिये।

† १—पं०—लंकिनीके मुखसे तो 'शठ' सम्बोधन श्रीहनुमान्‌जीके प्रति ही है। पर सरस्वतीकृत अर्थ यह है कि 'मेरा शठ मर्म' 'मेरी शठताका मर्म नहीं जानता। २—मा० त० सु० ने 'सठ' को देहलीदीपक मानकर अर्थ किया है—'अरे शठ! मेरा शठ मर्म नहीं जानता!' 'शठ मर्म' का भाव कि मेरा स्वभाव शठ है, मैं किसी प्रकार विनय—प्रार्थनासे भी आर्द्र नहीं होती। यथा—'सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती·····।'

☞ मेरी समझमें ऐसा अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। 'शठ' सम्बोधन स्वाभाविक उचित ही है। वाल्मीकीयमें भी इसका प्रमाण मिलता है। यथा—'कस्त्वं केन च कार्येण इह प्राप्तो वनालय।···॥' '···भूय एव पुनर्वाक्यं बभाषे परुषाक्षरम्॥ मामनिर्जित्य दुर्बुद्धे राक्षसेश्वरपालिता। न शक्यमद्य ते द्रष्टुं पुरीयं वानराधम॥ (५। ३। २३, ३५-३६) वहाँके 'वनालय' (जंगली) 'दुर्बुद्धे' (मूर्ख) और 'अधम' के स्थानपर यहाँ 'शठ शब्द है।

‡ विनयपत्रिकामें यही आशय पद २६६ में है। यथा—'चित्रकूट गये हौं लखि कलिकी कुचालि सब, अब अपडरनि डर्‌यो हौं। माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‌यो हौं। चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभुसों गुदरि निबर्‌यो हौं।' (३-४) अर्थात् कलिरूपी चोरको मैंने पहचान लिया इससे वह अब मेरे प्राण ही ले लेगा।

यथा—*'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई॥'* (सुं० १९, मेघनाद), *'तब मारुतसुत मुठिका हनेऊ। परेउ धरनि ब्याकुल सिर धुनेऊ॥'* (लं० ६४, कुम्भकर्ण), *'मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा।'* (लं० ८३, रावण); परन्तु यहाँ लङ्किनीको मुष्टिका लगनेपर मूर्च्छा न आयी। उसका मूर्च्छित होना न कहकर जनाया कि जैसा घूँसा हनुमान्‌जीने औरोंको मारा वैसा इसको न मारा था। [इसका प्रमाण वाल्मीकीयमें भी मिलता है। सुं० स० ३ श्लोक २३—४२ में लिखा है कि—(उसे स्त्री जानकर) श्रीहनुमान्‌जी उसके कठोर वचनोंपर भी उससे तीन बार बहुत मृदु वचन बोले। उन्होंने पहले उससे पूछा कि 'तुम कौन हो और हमें क्यों डाँटती हो?' (श्लोक २६), और फिर पर्वत-सदृश खड़े होकर दूसरी एवं तीसरी बार यही कहा कि 'मुझे इस नगरीके देखनेका बड़ा कुतूहल है। अतः हे भद्रे! मैं उसे देखकर अपने स्थानको लौट जाऊँगा?—**'दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम्॥'** (३७) इसपर भी जब उसने शोर किया और हाथ चलाया तब उन्होंने उसे स्त्री जानकर बायें हाथकी मुट्ठीसे साधारण घूँसा मारा, पर उस प्रहारसे ही उसके अङ्ग शिथिल हो गये—**ततः संवर्तयामास वामहस्तस्य सोऽङ्गुलीः। मुष्टिनाभिजघानैनां हनुमान्क्रोधमूर्च्छितः॥ स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः। सा तु तेन प्रहारेण विह्वलाङ्गी निशाचरी॥ पपात सहसा भूमौ विकृताननदर्शना॥'** (४०-४१) वाल्मीकीयके इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि हनुमान्‌जीने इसे जो घूँसा मारा वह एक तो बायें हाथकी मुट्ठीसे मारा, दूसरे साधारण क्रोध करके मारा (और मेघनादादिको दाहिने हाथसे अत्यन्त क्रोधमें भरकर घूँसा मारा था) अतएव वे मूर्च्छित हो गये और यह मूर्च्छित न हुई।'] अथवा, इसे ब्रह्माका वरदान था कि *'बिकल होसि तैं कपिके मारे।'* इससे वह व्याकुल तो हुई पर उसे मूर्छा न आयी। यह हलका घूँसा भी उसे इतने जोरसे लगा कि उसने कई मुटकनियाँ खायीं।

नोट—मा० त० सु० में *'महाकपि'* अर्थात् बड़ा रूप धारण करनेका कारण यह लिखा है कि—उन्होंने सोचा कि यह स्त्री है, हमारा भयङ्कर रूप देखकर भयसे मार्ग छोड़ देगी; पर जान पड़ता है कि बड़ा रूप देखकर वह अत्यन्त क्रोधित हुई।

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका॥ ५॥
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥ ६॥

अर्थ—फिर वह लङ्का (अपनेको) सँभालकर उठी, और डरती हुई हाथ जोड़कर विनती करने लगी॥ ५॥ जब रावणको ब्रह्माने वर दिया था तब चलते समय ब्रह्माजीने मुझसे निशिचर-संहारका यह चिह्न बताया था॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'सो लंका'* कहनेका भाव कि जिसे हमने प्रथम लङ्किनी निशिचरी कहा, वह वस्तुतः लङ्का नगरी ही है, निशिचरी नहीं है। प्रथम अपनेको छिपाये रही इससे ग्रन्थकारने भी गुप्त ही रखा। जब वह खुली, अपना हाल स्वयं बताने लगी, तब ग्रन्थकारने भी स्पष्ट लिखा। (ख) *'संभारि'* से जनाया कि व्याकुल हो गयी थी। आगे वह स्वयं कहती है—*'बिकल होसि तैं कपिके मारे'।* (ग) हाथ जोड़ना, विनय करना, अपराध क्षमा करनेके लिये शीघ्र प्रसन्न करनेवाली मुद्रा है। यहाँ मन, वचन, कर्म तीनोंसे नम्र दिखाया—*'ससंका'* मन, *'कर बिनय'* वचन और *'जोरि पानि'* कर्म है। (घ) 'सशंक' है कि कहीं फिर न मार बैठें, क्योंकि मैंने बहुत दुर्वचन कहे थे। मानसमें 'शठ' और 'चोर' दो दुर्वचन लिखे गये। 'चोर' कहा उसे बदलेमें एक मुष्टिका तो खा चुकी, अब रहा दूसरा दुर्वचन 'शठ', कहीं उसके बदलेमें दूसरा घूँसा न मिले जो प्राण ही निकल जायँ।

नोट—१ *'पुनि संभारि उठी'* इति। वाल्मीकिजी स० ३ में लिखते हैं कि हनुमान्‌जीको प्रवेश करते देख लङ्किनी उठी थी, यथा—**'स्वयमेवोत्थिता तत्र विकृताननदर्शना।'** (२१) और सामने आकर खड़ी हो गयी। मुष्टिका लगनेके पूर्वतक वह खड़ी रही। मुष्टिका लगनेसे वह मुटकरी खाकर गिर पड़ी थी। मानसके *'पुनि'* शब्दसे यह भी जना दिया है कि एक बार वह पहले भी उठी थी—ललकारनेको। और अब गिरनेपर फिर उठी—विनय करनेको।

नोट—२—*'जोरि पानि कर बिनय'* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं—**'ततो वै भृशमुद्विग्ना लङ्का सा**

गद्‌गदाक्षरम्। उवाचागर्वितं वाक्यं हनुमन्तं प्लवङ्गमम्॥ प्रसीद सुमहाबाहो त्रायस्व हरिसत्तम। समये सौम्य तिष्ठन्ति सत्त्ववन्तो महाबलाः॥ अहं तु नगरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम। निर्जिताहं त्वया वीर विक्रमेण महाबल॥' (५। ३। ४३—४५) अर्थात् 'दीनतापूर्वक गद्गदवाणीसे बोली कि 'हे वानरश्रेष्ठ! हे महाबाहो! आप प्रसन्न होकर मेरी रक्षा करें। हे सौम्य! पराक्रमी वीर अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हैं। मैं स्वयं लङ्कापुरी हूँ। आपने अपने पराक्रमसे मुझे जीता है। मैं एक सत्य बात कहती हूँ उसे सुनिये।'—यही 'विनय' है।

नोट-३—*'ससंका'* इति। हनुमान्‌जी 'महाकपि' रूपसे अभी सामने खड़े हैं, इससे डर रही है कि कहीं अभी जीती देख मार न डालें जिसमें निश्चिन्त होकर भीतर जा सकें। दूसरे ब्रह्माजीका वर स्मरण हो आया, अतएव शंकित है कि मुझसे भारी भागवतापराध हो गया, श्रीरामदूतको मैंने दुर्वचन कहे। तुरत क्षमा माँग लूँ। मार डाली गयी तो यह पाप भोगना पड़ेगा।

नोट-४—*'पुनि''बर दीन्हा'* पायकुलक, *'चलत''''* 'तामरस है-(ब्रं० चं०)। लङ्किनीके कोपरूप भावकी शान्ति हनुमान्‌जीके रुष्ट भावसे होना 'समाहित अलङ्कार' है।'

टिप्पणी—२ *'चलत बिरंचि''''* ' इति। (क) अग्निपुराणमें कहा है कि ब्रह्माजीने रावणको वर दिया था कि दिव्य लङ्कापुरीमें पाँच करोड़ वर्ष राज्य करेगा। ब्रह्माके वर देनेपर मैंने उनसे प्रार्थना की कि दुष्टोंके वाससे मुझे बड़ा दुःख होगा, कभी धर्मात्माका राज्य भी यहाँ होगा और कब? इसपर उन्होंने मुझे यह चिह्न बताया कि *'बिकल होसि''''* '। उसी समयसे मैं आपकी प्रतीक्षा करती रही हूँ।' **चीन्हा**=चिह्न। यहाँ—*'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा', 'मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा'*। (ख) इस कथनका भाव यह है कि मुझसे अनजानमें आपका अपमान एवं अपराध हुआ, जान लेती तो आदर करती, तब आप न मुझे मारते; न मैं विकल होती और न ब्रह्माका वचन ही सिद्ध होता। अतएव *'छमहु चूक अनजानत केरी'* सफाईमें ब्रह्माका वचन कहा कि वह असत्य नहीं हो सकता। यथा—**'स्वयंभूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः॥'** (५। ३। ४८)

मा० त० सु०—*'ब्रह्मा'* और *'बिरंचि'* में पुनरुक्ति नहीं, क्योंकि एक रावण-वरदान-विषयक है और दूसरा लङ्किनी प्रतिकथोपकथनविषयक है और इसका अगली चौपाईतक सम्बन्ध है।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि व्युत्पत्तिदृष्ट्या ब्रह्मा और विरंचिमें बहुत भेद है। ब्रह्मा=प्रजाकी वृद्धि करनेवाले। रावणको वर देकर उन्होंने उसकी शक्ति, आयु, ऐश्वर्य आदिकी अत्यन्त वृद्धि की, अतः उस कार्यमें '**ब्रह्मा**' शब्द दिया। पर रावणके इस कार्यसे असंख्योंकी स्वतन्त्रता आदिका क्षय होगा इसके विरुद्ध कोई रचना की गयी या नहीं यह कहना आवश्यक था, अतः द्वितीयार्थमें यह कहनेके लिये *'बिरंचि'* शब्द दिया गया। **बिरंचि**=विरुद्ध रचना करनेवाले। (*'बिरंचि'* शब्दका प्रयोग विशेष रचना करने अथवा सृष्टिकी रचनाके सम्बन्धसे *'मनु बिरंचि कर भूल' 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी''''*।' (१। २२३) आदि अनेक स्थानोंमें आया है।)

नोट—५ श्रीहनुमान्‌जीके बिना पूछे ही वह सब बातें कह चली। इसमें इसका गूढ़ अभिप्राय सच्ची बात कहकर रामदूतकी कृपा सम्पादन करनेका है। यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलङ्कार' है। (वीरकवि)

नोट—६ वाल्मी० सुं० ३ श्लोक ४७ में कहा है कि जब कोई वानर अपने पराक्रमसे तुझे वशमें कर ले तब जान लेना कि राक्षसोंपर विपत्ति आ गयी। उद्धरण आगेकी चौपाईमें दिया गया है।

बिकल होसि तैं* कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संघारे॥७॥
तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥८॥

अर्थ—जब तू कपिके मारनेसे व्याकुल होवे, तब जान लेना कि निशिचरोंका नाश हुआ (और धर्मात्माका राज्य होगा)॥७॥ हे तात! मेरा बड़ा भारी पुण्य उदय हुआ है कि मैंने श्रीरामजीके दूतको नेत्रोंसे देखा॥८॥

* जब—कोदवराम। तैं—१७२१, १७६२, छ० १७०४

टिप्पणी—१ *'मोर अति पुन्य बहूता'।* सन्तदर्शन भारी पुण्यके उदयसे होता है, यथा—*'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता', 'मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ।'* (उ० ४५; अ० १२५)

नोट—१ *'तात मोर अति पुन्य बहूता'* इति। *'तात'* शब्द यहाँ 'श्रेष्ठतावाची प्यारका' सम्बोधन है, रामदूत जानकर उनमें प्रेम हो गया; इसीसे *'तात'* कहा। *'अति पुन्य बहूता'* अर्थात् मैं धन्य हूँ। यथा—**'धन्याहमप्यद्य चिराय राघवस्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी। तद्भक्तसङ्गोऽप्यतिदुर्लभो मम प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि॥'** (अ० रा० ५। १। ५७) अर्थात् आज बहुत दिनोंमें भवबन्धनमोचिनी श्रीरामजीकी स्मृति मुझे हुई और उनके भक्तका अत्यन्त दुर्लभ सङ्ग प्राप्त हुआ; अतः आज मैं धन्य हूँ। *'बिकल''''संघारे'* पायकुलक है, *'तात''''बहूता'* स्वागता है और *'देखेउँ नयन'* पायकुलक है। (ब्र० चं०)

टिप्पणी—२ *'देखेउँ नयन'* इति। अर्थात् महात्मा लोग आपको ध्यानमें देखते हैं, वही आप मुझे आँखोंसे देखनेको मिले, यथा—*'देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद कंज'* (सुं० ४७)।

टिप्पणी—३-*'राम कर दूता'* से पाया गया कि ब्रह्माजीने बहुत संक्षेपमें इससे रामायण भी कही, जैसे चन्द्रमा मुनिने सम्पातीसे। नहीं तो *'बिकल होसि'* इतनेसे ही उसने कैसे जान लिया कि ये रामदूत हैं?

नोट—२ अध्यात्मरामायण सुं० सर्ग १ में ब्रह्माजीका कथन भी है। लङ्किनीसे उन्होंने पूरी कथा संक्षिप्त रूपमें कही है—अट्ठाईसवीं चतुर्युगीमें दशरथजीके यहाँ श्रीरामका और जनकमहाराजके यहाँ श्रीसीताजीका अवतार होना, श्रीसीताराम-लक्ष्मणका वनको जाना और वहाँ सीताहरण होनेपर सुग्रीवजीसे मित्रताका होना और सीताजीकी खोजमें वानरोंका भेजा जाना (श्लोक ४८—५१) कहकर बताया है कि उनमेंसे एक वानर रात्रिमें तेरे पास आवेगा और तुझसे तिरस्कृत होनेपर एक मुष्टिका मारेगा, जिससे तू विकल हो जायगी, उसी समय रावणका अन्त होगा। यथा—**'त्वया च भर्त्सितः सोऽपि त्वां हनिष्यति मुष्टिना॥ तेनाहता त्वं व्यथिता भविष्यसि यदानघे। तदैव रावणस्यान्तो भविष्यति न संशयः॥'** (अ० रा० ५। १। ५२-५३)

वाल्मीकीयमें चरितका कहना नहीं पाया जाता। किसी वानरसे पराजय होनामात्र कहा है, यथा—**'यदा त्वां वानरः कश्चिद्विक्रमाद्वशमानयेत्। तदा त्वया हि विज्ञेयं रक्षसां भयमागतम्॥'** (५। ३। ४७)

नोट—३ मा० त० सु०—(क) *'जब रावनहिं'* यहाँसे *'निसिचर संघारे'* तक सब पद साकांक्षित श्लेष हैं। इनमें बहुत भाँतिके अर्थ हैं। अन्वय—*'जब रावण चलत और बिरंचि चलत मोहि चीन्हा तब मोहि निसिचर संहारे चीन्हा'* कहा (मैंने निशिचर-संहारका लक्षण पूछा) यह *सुनि बिरंचि मोहि* कहा—*जब कपि'''' तब निसिचर संहार चीन्हा जानेसु।'* (ख) *'अति पुन्य बहूता'* इसके अर्थमें तीन कोटि हैं। पुण्य, अति पुण्य और बहुत अति पुण्य। ब्रह्माका समागम पुण्य है, यथा—*'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥'* भगवत्-यशश्रवण अति पुण्य है, यथा—*'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा'।* और *'बहुत अति पुण्य'* [=पुण्य पुञ्ज] श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन है। (ग) 'रामदूत'से सिद्ध हुआ कि उसने प्रेमपूर्वक ब्रह्मासे पूछा था तब उन्होंने चरित सुनाया। इससे श्लेषवाला अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

दो०—तात* स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥ ४॥

अर्थ—हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखिये और लवमात्र सत्सङ्ग-सुखको दूसरे पलड़ेमें रखिये तो वे सब मिलकर भी उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे होता है॥ ४॥

नोट—१ यह दोहा मिश्रित है—(ब्र० चं०)

टिप्पणी—१ *'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख'''''* इति। (क) यहाँ 'तुला' (तराजू) क्या है? बुद्धि ही तराजू है; यथा—*'मैं मति तुला तौलि देखी भइ मोरिहि दिसि गरुआई।'* (विनय०) संसार-सुखसे

* तात—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा०। सात-कोदवराम।

स्वर्गसुख विशेष है और स्वर्गसुखसे अपवर्ग-(मोक्ष-) सुख अधिक है और इन तीनों सुखोंसे सत्सङ्ग-सुखकी महिमा विशेष है। यह विशेषता दिखानेके लिये स्वर्ग, अपवर्ग और सत्सङ्गको क्रमसे कहा गया। —[यज्ञ आदि सकाम पुण्य-कर्मोंसे स्वर्गके दिव्यभोगोंकी प्राप्ति होती है, यथा—'***अगम अपबर्ग अरु स्वर्ग सुकृतैक फल*****।**' (विनय०) पर पुण्य क्षीण होनेपर फिर संसारमें (मर्त्यलोकमें) आना पड़ता है, यथा—'**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**' (गीता ९। २१)'***ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥***' (७। १३); इतना ही नहीं स्वर्गमें भी सवतिया डाह बना रहता है, यथा—'***स्वर्गहु मिटत न सावत***' (विनय०), '***ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥***' इत्यादि। अतएव स्वर्गसे मोक्षका सुख अधिक कहा। मोक्षसुख बिना हरिभक्तिके रह नहीं सकता, यथा—'***तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥***' (७। ११९) और भक्ति बिना सन्त-सङ्गके नहीं मिलती, यथा—'***सो बिनु संत न काहू पाई॥***'] पुनः (ख) स्वर्ग-सुखसे कर्मकाण्ड जनाया क्योंकि कर्मका ही फल स्वर्ग-सुख है। अपवर्ग-सुखसे ज्ञानकाण्ड क्योंकि ज्ञानका फल मोक्ष है, यथा—'***ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।***' (३। १६), और सत्सङ्गसे भक्ति अर्थात् उपासनाकाण्ड जनाया, क्योंकि भक्तिका फल सत्सङ्ग है। सत्सङ्गको भक्तिका फल कहनेका भाव यह है कि भजन करनेसे भगवान्की कृपा होती है, उससे फिर सत्सङ्ग मिलता है, यथा—'***मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥***' (१। २००), '***जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।***' (विनय० १३६) '***बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।***' पुनः सत्सङ्ग भक्तिका सर्वप्रथम अङ्ग भी कहा गया है और भक्तिका सिद्ध फल भी है। यथा—'***प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।***' (३। ३५) '***सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि***''**॥**' (१। ३)]—अभिप्राय यह है कि ये सब मिलकर भी भक्ति-(सत्सङ्ग-) के सुखके तुल्य नहीं हो सकते।

नोट—२ स्वर्ग अनेक हैं और मोक्ष भी कई प्रकारका है। समस्त स्वर्गोंके सुख और समस्त मोक्षोंके सुख मिलकर भी लवमात्रके सत्सङ्गके सुखकी समता नहीं कर सकते। यह हमारे अनुभवी ऋषियोंका अनुभूत सिद्धान्त है। शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषियोंने यही बात सूतजीसे कही है। यथा—'**तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥**' (भा० १। १८। १३)

नोट—३'***लव***' का क्या परिमाण है इसमें मतभेद है। पाँड़ेजी ६० लवका एक निमेष बताते हैं। दोनों पलकोंके एक बार मिलकर फिर उठ जानेमें जो समय लगता है उसे निमेष कहते हैं। हेमचन्द्रके मतसे ३६ निमेषोंका एक 'लव' होता है। यथा—'**अष्टादश निमेषास्तु काष्ठाद्वयं लवः।**' (हेमचन्द्र), (रा० ब०) और श्रीमद्भागवतमें तीन लवका एक निमेष कहा गया है, यथा—'**निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः। क्षणान्पञ्च विदुः काष्ठां लघुता दशपञ्च च॥**' (३। ११। ७) अर्थात् तीन लवका एक 'निमेष' होता है, तीन निमेषका एक 'क्षण', पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' और पन्द्रह काष्ठाका एक 'लघु' होता है। ☞ भागवतके श्लोकके लिये उसीका प्रमाण लेना होगा। इस तरह 'लव' निमेषका तिहाई समय हुआ।

नोट—४ सत्सङ्ग लाभकी अवधि है, सत्सङ्ग-समान सुख नहीं है—यह अन्यत्र भी कहा गया है। यथा—'***गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।***' (उ० १२५), '***संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।***' (उ० १२१) शङ्का—लङ्किनीने हनुमान्जीको चोर और शठ कहा; हनुमान्जीने उसे घूँसा मारा। इसमें सत्सङ्ग क्या हुआ? समाधान—यहाँ दर्शन और स्पर्शका माहात्म्य कहते हैं, ऐसा लङ्किनीने कहा भी है—'***देखेउँ नयन राम कर दूता***'। पुनः, यथा—'***सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकौ बारा॥***' यह जो कहा है सो निमिषमात्रका सत्सङ्ग, 'दर्शन' छोड़ और क्या हो सकता है? सत्सङ्ग कई प्रकारका कहा गया है। दर्शन-सत्सङ्ग, स्पर्श-सत्सङ्ग, समागम-सत्सङ्ग इत्यादि। यथा—'***दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।***' (विनय०) दर्शन-सत्सङ्गका माहात्म्य विनयके उद्धरणमें आ गया। पुनः यथा—'***संत दरस जिमि पातक टरई।***' स्पर्श-सत्सङ्गका उदाहरण है—'***सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥***'; समागमके उदाहरण तो बहुत हैं—याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-समागम, भुशुण्डि-गरुड़-समागम, अगस्त्यजी और शिवसनकादिका समागम।

यथा—'*सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे॥*' (बा० १०५) इत्यादि। समागमका माहात्म्य '*गिरिजा समागम*'''' और '*दरस परस*'''' में कहा जा चुका है।

दोहेका भाव यह है कि आपके दर्शन और स्पर्शसे मुझे स्वर्ग और अपवर्गके सुखोंसे भी अधिक सुख हुआ। ☞ देखिये, प्रत्यक्ष एक फल तो यही हुआ कि उसने अपनी तामसी वृत्ति छोड़कर सात्त्विकी वृत्ति ग्रहण कर ली।

☞ पद्मपुराण पातालखण्ड अश्वमेधयज्ञ-प्रसङ्गमें राजा सुबाहुसे युद्ध करते समय श्रीहनुमान्‌जीने बड़े क्रोधमें भरकर राजा सुबाहुकी छातीमें लात मारी थी जिससे राजा मूर्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े थे। मूर्छासे जागनेपर जब वे श्रीशत्रुघ्नजीके समीप आये तब उन्होंने भी यही कहा है—'साधुओंका सङ्ग हो जानेपर इस पृथ्वीपर क्या-क्या नहीं मिल जाता। मैं महामूढ़ था किन्तु सन्तके प्रसादसे ही आज मेरा ब्रह्मशापसे उद्धार हुआ।' देखिये, उन्होंने भी 'लात' ही खायी थी। इसीको तो उन्होंने 'सन्तसङ्ग' कहा है। उन्होंने भी हनुमान्‌जीको सन्त कहा है।

वि० त्रि०—प्रश्न यह उठता है कि लङ्किनीको हनुमान्‌जीके सत्सङ्गके लवसे कौन सुख मिला जो वह ऐसा कह रही है? उसे तो हनुमान्‌जीसे मुष्टिकाके आघातका ही लाभ हुआ, जिससे वह रुधिर वमन करती हुई पृथ्वीपर लोटने लगी। फिर सँभालकर उठी तो उसे ब्रह्मदेवके कथनकी याद आ गयी कि '*बिकल होसि तैं कपिके मारे। तब जानेसि निसिचर संहारे॥*' उसने जान लिया कि ये रामजीके दूत हैं, ये यदि दूसरी मुष्टिका मारेंगे तो प्राण न बचेंगे। इसी शङ्कासे सशङ्कित होकर वह हाथ जोड़कर विनय करने लगी। कहा जा सकता है कि निशिचरोंके संहारकी आशासे उसे खुशी हुई, तो यह कोई उसके लिये नयी बात नहीं थी। '*हरिप्रेरित जेहि कल्प जो जातुधानपति होइ। सूर प्रतापी अतुल बल दलसमेत बस सोइ॥*' उसपर सदासे ही निशिचर बसते चले आये हैं। यदि यह कहा जाय कि लङ्किनीके ऐसा कहनेका यह आशय है कि आप रामजीके दूत हैं, सन्त हैं, आपके सत्सङ्गके लवसे भी ऐसा सुख होना चाहिये, जिसके आगे स्वर्ग और मोक्ष भी अकिञ्चित्कर मालूम हों, आपके मिलनेसे प्राण-हानि न होनी चाहिये, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे सत्सङ्गके सुखका स्थापन नहीं होगा।

समाधान यह है कि हनुमान्‌जी लक्ष्यालक्ष्यरूप (मशकसमान रूप) से रातको लङ्कामें प्रविष्ट हुए। कोई लख न सका, पर लङ्किनीने इतना लख लिया कि कोई चोरीसे पुरमें प्रवेश कर रहा है। जब उसने डाँटा तब हनुमान्‌जीने यह समझकर कि इस रूपसे इसका मैं कुछ नहीं कर सकता, विशाल रूप धारण करके उसे मुष्टिका मारी। गिरनेके बाद जब वह उठी तब हनुमान्‌जीके स्वरूपका उसे दर्शन हुआ। उस दर्शनसे उसे ऐसा बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय अलौकिक सुख हुआ कि उसे स्वर्ग और मोक्ष तुच्छ मालूम होने लगे। अतः वह कहती है कि '*तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥*', '*तात स्वर्ग*''' इत्यादि।

मा० त० सु०—१ '*जो सुख लव सतसंग*' कहनेका भाव यह है कि 'मुझे इस राक्षसमण्डलीमें लवमात्र भी सत्सङ्ग प्राप्त होना स्वर्गापवर्गादि सुखोंसे बढ़कर है।' २—वह सत्सङ्गजनित सुख कौन और कैसा है? समाधान—यथा—'*परानन्दसन्दोह*'—'*अनिर्वाच्य बिश्राम*'।

नोट—५ उत्तरकाण्डमें सत्सङ्गको अपवर्गका मार्ग अर्थात् साधन कहा है, यथा—'*संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ। कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥*' (३३) और यहाँ सत्सङ्गको अपवर्गसे विशेष कहते हैं। यह विपर्यय क्यों? उत्तर यह है कि वहाँ सत्सङ्ग और अपवर्गकी चर्चा है और यहाँ सत्सङ्गजनित सुख और अपवर्गजनित सुखकी चर्चा है। वह मोक्ष देहावसानपर प्राप्त होता है और यहाँका मोक्षसुख तो इसी शरीरमें प्राप्त होता है यथा—'*मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकहु मराला॥*' (१। ३)

नोट—६ इस सम्बन्धमें एक कथा कही जाती है कि वसिष्ठजी और विश्वामित्रजीमें वाद-विवाद हुआ। वसिष्ठजी सत्सङ्गको श्रेष्ठ कहते थे और विश्वामित्रजी तपको। अन्ततोगत्वा इसके निर्णयके लिये दोनों शेषजीके

पास गये। शेषजीने कहा कि दोनोंमेंसे कोई ब्रह्माण्डके भारको थाम ले तो मैं इसका उत्तर दूँ। पहले विश्वामित्रजीने अपनी सारी तपस्याका फल लगाकर पृथ्वीको थामना चाहा पर न सँभाल सके, तब वसिष्ठजी पलभरके सत्सङ्ग-फलको लगाकर उसे हाथपर दो घड़ीतक लिये रहे। बस, इसीसे सत्सङ्गके बड़े होनेका निर्णय हो गया। (पाँ०, वीरकवि)

नोट—७ ☞ यहाँ अब एक प्रश्न और यह उठता है कि वे सन्त कौन हैं जिनके लवमात्रके सङ्गसे असीम लाभ और असीम सुख प्राप्त होता है? ऐसे सन्त श्रीहनुमान्‌जी, श्रीअगस्त्यजी, श्रीभुशुण्डिजी इत्यादि ही हैं। विनयमें भी पद ५७ में जहाँ सत्सङ्गकी प्रार्थना की गयी है उसमें सन्तोंके लक्षण कहे हैं। यथा—*'ये तु भवदंघ्रिपल्लवसमाश्रित सदा, भक्तिरत बिगतसंसय मुरारी॥' 'शांत, निरपेक्ष, निर्मम, निरामय, अगुण, शब्दब्रह्मैकपर, ब्रह्मज्ञानी। दक्ष, समदृक, स्वदृक, बिगत अति स्वपरमति, परमरति बिरति, तव चक्रपानी॥ विश्व उपकारहित व्यग्रचित्त-सर्वदा, त्यक्तमदमन्यु, कृत पुण्यरासी।'* (१-५)—ऐसे संत और भगवान्‌में भेद नहीं है। ऐसोंका हरिकृपासे लवमात्रका सङ्ग अवश्य परम सुखदायी होगा।

☞ श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवत्सङ्गिसङ्ग' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'जो भगवान्‌में निरन्तर रत रहते हैं, जिनका भगवान्‌से सदैव सङ्ग है (Always in communion with God) जिन्हें *'बिनु हरि भजन काज नहिं दूजा'*—उन भगवदनुरागी सन्तोंका सङ्ग।'

श्रीहनुमान्‌जी वैसे ही सन्त हैं तभी तो उनके दर्शन और स्पर्शमात्रसे जरा-सी देरमें लङ्किनी क्या-से-क्या हो गयी? तामसी वृत्ति छोड़कर वह सात्त्विक हो गयी। यदि उसको परमसुख नहीं हुआ तो उसने कहा कैसे? दर्शन और स्पर्शसे इतना सुख हुआ, समागम होता तब तो न जाने कैसा सुख होता!!

नोट—८ पंजाबीजी लिखते हैं कि—'स्वर्गादिके सुखसे सत्सङ्ग-सुख विशेष है इस बातको प्रत्यक्ष दिखानेके लिये ही 'तुला' का दृष्टान्त दिया गया है कि देख न लो स्वर्गादि सुखका पलड़ा ऊपर चला गया और सत्सङ्ग-सुखका नीचे पृथ्वीपर रह गया।' भारी ही तो नीचे रहता है।

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥ १॥

अर्थ—कोशलपुरके राजा रामचन्द्रजीको हृदयमें रखकर नगरमें प्रवेश करके सब कार्य कीजिये॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'प्रबिसि नगर'* कहनेका भाव कि आपके इस अति लघु रूपको मैं ही जान सकी, लङ्कामें कोई इसे न जान सकेगा, आप निर्भय होकर प्रवेश करें। (ख) *'सब काजा'* अर्थात् सीता-दर्शन, अशोक वनका उजाड़ना, दुष्टदलन इत्यादि। पुनः, ये उत्तम दूत हैं। स्वामीके अनुकूल बहुत काम करेंगे। संक्षेपसे ब्रह्माने सब चरित इससे कह दिया था; इसीसे यह जानती है कि कई काम इनके द्वारा होंगे। अतएव यहाँ केवल श्रीसीताजीकी सुध लेना न लिखा। (विशेष नोट २, ३ में देखिये)। *'हृदय राखि'*—जिसमें कार्य सिद्ध हो। (ग) *'कोसलपुर राजा'* के स्मरणसे कुशल होगी जैसे कोसलपुरीकी रक्षा करते हैं वैसे ही तुम्हारी करेंगे। अथवा, इनके स्मरणसे सब कामोंमें तुम्हारी शोभा होगी। राक्षस-वध, लङ्कादहन आदिमें तुमको कोई दोष न लगेगा; क्योंकि *'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहिं सब छाजा॥'* (३। १७। १४) इसी प्रकार तुम्हें भी सब छजेगा। अथवा, लङ्काका ऐश्वर्य देखकर इनको मोह न होगा; क्योंकि कोशलपुरका ऐश्वर्य लङ्कासे बहुत अधिक है। (विशेष नोट ४, ५ देखिये)। (च) लङ्कामें प्रवेश करना बहुत कठिन है इसीसे बारम्बार स्मरण करते हैं, यथा—*'लंकहिं चलेउ सुमिरि नरहरी,' 'पैठा नगर सुमिरि भगवाना'*। (सुं० ४, ५)

नोट—१ यह 'पायकुलक' है—(ब्र० चं०)।

नोट—*'सब काजा'* इति। पाँड़ेजीके मतानुसार वे सब कार्य ये हैं—(१) सुग्रीवकी प्रतिज्ञा श्रीजानकीजीको ला देनेकी। (२) रामकार्य (सीताजीकी सुधि लाना, देखना, उनको धीरज देना इत्यादि)। (३) वानरोंके श्रमको सफल करना। (४) श्रीजानकीजीका वियोग-विरह-दुःख दूर करना। (५) विभीषणका मनोरथ पूर्ण करना। और (६) लङ्काको जलाकर त्रैलोक्यको सुखी करना।

नोट—३ अभिप्रायदीपककार *'सब काजा'* के भावार्थपर यह दोहा देते हैं—*'नगरी सगरी निसिचरी, है अधमरी पुकार। हरी प्राण लासी डरौं हौं बलि ताही जार।'* अर्थात् लङ्किनी कहती है कि राक्षसीरूपमें मैं यह सारी लङ्का नगरी ही हूँ, सारी लङ्का मेरी देह है, आपके घूँसेसे मैं अर्थात् सारी लङ्कापुरी अधमरी हो गयी, अब थोड़ी देरमें मैं मर जाऊँगी पर मैं डरती हूँ कि मेरा देह कोई जलायगा नहीं, अतएव मैं आपकी बलैया लेती हूँ आप मेरे मरनेपर इसे जला दीजियेगा।—इसीसे हनुमान्‌जीने लङ्कापुरीको उलट-पलटकर जलाया जैसे लाशको जलाया जाता है। यह भाव *'सब काजा'* में गुप्तरूपसे है।

नोट—४ *'हृदय राखि कोसलपुर राजा'* का एक भाव यह है कि—श्रीहनुमान्‌जी लङ्कामें घर-घर श्रीसीताजीको खोजेंगे। लङ्कामें त्रैलोक्यसुन्दरियाँ देख पड़ेंगी, यथा—*'देव जच्छ गंधर्ब नर किंनर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि॥'* (बा० १८२) उनको देखकर इनका चित्त बिगड़ न जाय, इसीके लिये लङ्किनीने उन्हें यह मूलमन्त्र बताया। (पाँ०)

प० प० प्र० स्वामी लिखते हैं कि 'रावण लङ्काका राजा है, उसकी शक्ति अगाध है पर उसके पास 'कोसलपुर राजाका स्मरण' यह शक्ति नहीं है, तुम स्मरण करो तो तुम उससे अधिक बलवान् हो जाओगे। उसे देवताओंसे डर नहीं है, मानवसे उसकी मृत्यु है, अतः तुम उनका स्मरण करते रहना।'

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि *'लंका चलेउ सुमिरि नरहरी'* का अर्थ भी श्रीनृसिंहभगवान् न करके श्रीरामचन्द्र अर्थ किया जायगा, तो लङ्काकी अधिष्ठात्री देवताके *'हृदय राखि कोसलपुर राजा'* ऐसे उपदेशके लिये अवसर न रह जायगा। यहाँ भाव यह है कि सङ्कट आ पड़नेपर भी इष्टदेवके ध्यानमें परिवर्तन करना अच्छा नहीं। हनुमान्‌जी रामजीको हृदयमें धारण करके चले, पर लङ्कामें प्रवेशके समय नृसिंहजीका स्मरण किया तो छिपना चाहते हुए भी पहिचाने गये। देवी उपदेश देती है कि हृदयमें कोसलपुरके राजाको धारण करो, सब कार्य सिद्ध होगा, यथा—*'बनै सो रघुबर ते बनै वा बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबे महँ धूर॥'* अतः पुनः भगवान् रामजीका स्मरण करना कहेंगे।'

लमगोड़ाजी—दैवी सम्पत्तिके संगठनका केन्द्र 'कोसलपुर' (जहाँ कुशल मति और सुमति ही हो) ठीक ही है; और हम देखेंगे कि लङ्कामें कुमति ही अधिक है। परिणाम *'जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥'* होना ही है।

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ २॥
गरुड़* सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा† जाही॥ ३॥

अर्थ—हे गरुड़! जिसपर श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके दृष्टि की, उसके लिये विष अमृत हो जाता है, शत्रु उससे मित्रता करता है, समुद्र उसके लिये गऊके खुरके समान हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और सुमेरु पर्वत रेणु (बालूका कण वा धूलि) के समान (हलका) हो जाता है॥ २-३॥

नोट—१ अर्धाली २ का सम्बन्ध अर्धाली ३ से है। इसलिये दोनोंका अन्वय साथ करके अर्थ किया गया है।

नोट—२ *गरुड़ सुमेरु*····· 'नयमालिनी छन्द है और *'राम कृपा·····'* से *'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥'* (५) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)

टिप्पणी—१ (क) *'राम कृपा करि चितवा जाही।'* इति। श्रीरामकृपाका चिह्न यह है कि कृपापात्रपर कोई विघ्न नहीं व्यापते; यथा—*'सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥'* (१। ३९) (ख) यहाँ विरोधी पदार्थों और गुणोंका अनुकूल होना कहकर रामकृपाकी परमोत्कृष्ट महिमा दिखायी

* गरुड़—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, बंदनपाठक। गरुअ—कोदवराम। 'गरुड़' पाठ संबोधन है और 'गरुअ' पाठ 'सुमेरु' का विशेषण है। 'गरुड़' पाठपर टिप्पणी १ (घ) और 'पाठान्तर' देखिये।

† चितवहिं—कोदवराम। चितवा—का०, छ०, भा० दा०, १७६२।

है कि वह असम्भवको भी सम्भव कर देती है। (ग) *'चितवा जाही'* का भाव कि कोई नियम नहीं है कि किसपर कृपादृष्टि करते हैं। जिस किसीपर भी कृपादृष्टि करते हैं वही ऐसा हो जाता है (इस कथनसे यह भी जनाती है कि विघ्न न व्यापनेपर कभी अभिमान न आने देना)।

☞ यहाँ श्रीरामकृपासे अर्थात् श्रीरामजीके अनुकूल होनेसे अहितका भी हितकारी हो जाना कहा है और अरण्यकाण्ड जयन्त-परीक्षा-प्रसङ्गमें इसका विपर्यय कहा है। वहाँ कहा है कि श्रीरामजीके प्रतिकूल होनेसे हितकारी भी अहितकारी हो जाते हैं; यथा—*'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जग ताहि अनलहु तें ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'* (३। २) दोनोंका मिलान—

गरल सुधा	१ *सुधा होइ बिष*
रिपु करै मिताई	२ *मित्र करइ सत रिपु कै करनी*
गोपद सिंधु	३ *ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी*
अनल सितलाई	४ *सब जग ताहि अनलहु तें ताता*
राम कृपा करि चितवा जाही	५ *जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता*
गरुड़	६ *हरिजान*

(घ) जहाँ नीतिका वर्णन किया जाता है वहाँ भुशुण्डिजीकी उक्ति अवश्य है। ये नीतिके मुख्य वक्ता हैं, इसका हेतु गुरु-उपदेश है। यथा—*'एक बार गुर लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई॥'* (उ० १०६) गुरुजीने बहुत नीति इन्हें सिखायी है।

टिप्पणी—२ यहाँ श्रीरामकृपासे जिन पाँच बातोंका होना कहा है, वे सब श्रीहनुमान्‌जीमें चरितार्थ हुईं। (१) सुरसा सर्पोंकी माता है; अतएव गरल है, वह ग्रास करने आयी थी—*'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा'* सो अमृत हुई। उसका आशीर्वाद कि *'राम काज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान'* सुधा है। (२) लङ्किनीने प्रथम शत्रुताकी बात कही कि *'जानेहि नहीं मरम सठ मोरा''''* वही अब मित्रताकी बात कहती है कि *'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।'* (३) सिन्धु गोपद-सा हो गया, यथा—*'बारिधि पार गयउ मतिधीरा।* (४) *'अनल सितलाई'* और *'सुमेरु रेनु'* ये दोनों भविष्य हैं। *'जरा न सो तेहि कारन गिरिजा'* यह अग्निका शीतल होना है। और, *'देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा॥'* अथवा *'जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥'* यह सुमेरुका रेणु होना है।

नोट—१ यहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान तीनोंमें श्रीरामकृपावलोकनसे इन बातोंका होना कहा है। एक-एक, दो-दो उदाहरण यहाँ दिये हैं। *'गोपद सिंधु'* और *'गरल सुधा'* से भूतकाल कहा; समुद्र गोपद-समान पार कर चुके और सुरसा पूर्व आशीर्वाद दे चुकी है। *'रिपु करै मिताई'* से वर्तमान कहा; रिपु लङ्किनी मित्र बनकर यह आशीर्वाद दे रही हैं, नगर-प्रवेशमें सहायक हो रही है। *'अनल सितलाई'* और *'सुमेरु रेनु सम'* भविष्यमें होंगे। यथा—*'ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥'* वाल्मीकीयमें स्वयं श्रीहनुमान्‌जीका इस विषयमें अनुभव कहा है। यथा— '**सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च। पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः॥**' (५। ५३। ३७) अर्थात् सीताजीकी दया, श्रीरामचन्द्रजीके तेजसे और मेरे पितासे मैत्री होनेके कारण आग मुझे नहीं जला रही है। श्रीसीताजीकी आज्ञासे अग्नि शीतल हो गयी यह भी उसी अध्यायमें कहा है। यथा—'**यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः। यदि वास्त्येकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः॥**' (वाल्मी० ५। ५३। २७) अर्थात् यदि मैंने पतिकी सेवा की है, यदि मैंने तपस्या की है, यदि मैं एक श्रीरामजीकी पत्नी हूँ, तो अग्नि! तुम हनुमान्‌जीके लिये शीतल हो जाओ। *'सुमेरु रेनु सम'* के उदाहरण पर्वतके चूर्ण होने, उखाड़ लेनेके, ऊपर आ गये। रावण सुमेरुवत् था या यों कहें कि रावणकी लङ्काका जलाना, रावणका मान-मर्दन करना सुमेरु था वह इनके लिये धूल-समान सहल हो गया।—(पाँ०)

प० प० प्र०—*'गरल सुधा'*—विषका शमन तो मणि, मन्त्र और ओषधि इत्यादिसे हो सकता है पर ब्रह्मबाणसे कोई बचता नहीं। हनुमान्‌जी ब्रह्मबाणसे बच गये, इतना ही नहीं, किन्तु इसीके बहानेसे उन्हें लङ्कादहनका अवसर मिल गया और उनका नाम अमृत (अमर) हो गया। *'रिपु करइ मिताई'*—रावणका भाई विभीषण मित्र बन गया। *'गोपद सिंधु'*—रावण-बाहुबल सागर है, यथा—*'मम भुज बल सागर जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥'* यह भुज-बल-सागर गोपद-सम हो गया। अशोकवनके १८ हजार रक्षक, ८० हजार सचिवसुत, अक्षयकुमार और उसकी सेना तथा मेघनादादि बलरूपी सागर हनुमान्‌जीको गोपद-समान हो गया। *'सुमेरु रेनु सम'*—*'सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा'* रावण हनुमान्‌जी और अङ्गदजीको रेणु-समान लगा।

शङ्का—हनुमान्‌जीको पहले सुरसा मिली और फिर समुद्र पार होनेपर लङ्किनी मिली, पर यहाँ पहले लङ्किनीका मिलना कहकर तब *'गोपद सिंधु'* कहा। इस क्रमभङ्गमें क्या हेतु है? समाधान—यहाँ सुरसा और लङ्किनी दोनोंकी समानता दिखानेके लिये क्रमभङ्ग किया गया। दोनोंकी समानता इस प्रकार है—(१) *'सुरसा नाम अहिन्ह कै माता'* और *'नाम लंकिनी एक निसिचरी'।* दोनोंके नाम कहे गये—यह नामकी समता हुई। (२)*'आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा'* और *'मोर अहार जहाँ लगि चोरा।'* दोनोंने आहार करनेको कहा—यह आहारकी समता हुई। (३) *'मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा'* और *'चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा'।* इन दोनोंमें देव-आज्ञाकी समता है। (४) *'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान'* और *'प्रबिसि नगर कीजे सब काजा'।*—दोनोंने रामकार्य करनेको कहा; यह आशीर्वादकी समता है। और (५) *'आसिष देइ गई सो हरषि·····'* और *'तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥'* अन्तमें दोनों प्रसन्न हुईं, यह प्रसन्नताकी समता हुई। यहाँतक समानता देखी। इससे इन दोनोंको साथ कहा। पुनः, (६) यहाँ तीन तत्त्व कहे गये—जलतत्त्व, अग्नितत्त्व और पृथ्वीतत्त्व। सजातीय तत्त्वोंको एक साथ कहा। *'गोपद सिंधु'* यह जलतत्त्व है, *'सुमेरु'* अग्नितत्त्व है, *'रेनु'* पृथ्वीतत्त्व। तत्त्वके सम्बन्धसे सिन्धुको सुमेरु और रेणुके साथ रखा।

पाठान्तर—१७२१ वाली प्रतिमें एवं काशीकी प्रतिमें और १७६२ वाली प्रतिमें *'गरुड़'* पाठ है। पं० रा० गु० द्विवेदीकी प्रतिलिपि जो वन्दन पाठकजीकी है उसमें *'गरुउ'* ऐसा लिखा है; सम्भव है कि 'उ' न हो 'ड' ही हो क्योंकि इन दोनोंकी लिखावट एक-सी होती है। ना० प्र० का पाठ *'गरुअ'* है। कई टीकाओंमें *'गरुअ'* पाठ है। यहाँ *'गरुड़'* सम्बोधन प्रथम देकर फिर गुरुतासूचक *'सुमेरु'* पद दिया गया। केवल *'गरुअ'* से भुशुण्डि-गरुड़-संवाद नहीं जान पड़ता, परन्तु केवल*'गरुड़'* से सुमेरुकी गुरुता आ जाती है और सम्बोधन भी।

वन्दन पाठकजीने उदाहरणमें ये श्लोक दिये हैं—'**अरिमित्रं विषोपथ्यं अधर्मो धर्मतां व्रजेत्। प्रसन्ने पुण्डरीकाक्षे विपरीते विपर्ययः॥**' (पद्मपुराण) '**वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्। मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते॥ व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते। यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति॥**' (नीतिशतक २-३)

नोट—२ ☞ सँभलनेपर लङ्किनीने विनीत होकर हनुमान्‌जीसे क्षमा माँगी और जो कुछ कहा वह स्वर्णाक्षरमें लिखने योग्य है; प्रत्येक कर्मयोगीका मूलमन्त्र है, सुखसारकी प्राप्तिका साधन है।

नोट—३ 'गरलका सुधा होना, रिपुका मित्रता करना' इत्यादि विरोधी पदार्थों और गुणोंके वर्णनमें 'विरोधाभास अलङ्कार' है। मा० त० सु० कारका मत है कि इन दोनों अर्धालियोंमें 'अयुक्त अलङ्कार' है, यथा—*'असुभै सुभ है जात जहँ, क्योंहूँ केसवदास। इहै अयुक्तै युक्त कवि बरनत बुद्धि बिलास॥'* (कविप्रिया)

नोट—४ कोई-कोई यह शङ्का करते हैं कि 'लङ्किनीने तो बहुत कुछ वार्तालाप किया पर श्रीहनुमान्‌जी कुछ भी न बोले?' मेरी समझमें लङ्किनीने जो कुछ कहा वह तो सारी विनय है, यथा—*'जोरि पानि कर बिनय ससंका।'* जो इस डरसे उसने की कि कहीं प्राण न ले लें। वह राक्षसी थी, उसके उत्तरकी जरूरत न थी, वे तो रामकार्यमें तत्पर हैं, विघ्न दूर हुआ, मार्ग मिल ही गया, इतना ही काम था वह

बन ही गया, अब समय क्यों खोते? दूसरे उसने जो कहा वह अनुकूल ही कहा, उसकी बातें ब्रह्माका वरदान इत्यादि सत्य मान लीं और चल दिये। उत्तर देनेकी कोई बात ही न थी।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना॥ ४॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा॥ ५॥

अर्थ—तदनन्तर श्रीहनुमान्‌जीने अत्यन्त छोटा रूप धारण किया और भगवान्‌का स्मरण करके नगरमें प्रवेश किया॥ ४॥ एक-एक करके प्रत्येक मन्दिरमें अच्छी तरह (बारम्बार) ढूँढ़ा। जहाँ-तहाँ (या, जहाँ देखें तहाँ ही) अगणित योद्धा देखे॥ ५॥

नोट—१ *'अति लघु रूप·····'* इति *'अति लघु रूप'* कहकर जनाया कि कल्पनामात्र देह थी, कितना छोटा रूप था कहा नहीं जा सकता। यथा—'**भूत्वा द्विदंशः। अकलितपरिमाणो मात्रया सत्रपस्तां क्षिपति**·····' (हनु० ६। १३) अर्थात् कल्पना करनेवाले देहकी मात्रासे लज्जित हुए।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ *'मुठिका एक महाकपि हनी'* के 'महाकपि' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। अर्थात् लङ्किनीके मारनेके लिये विशाल रूप धारण कर लिया था, अब फिर *'अति लघु रूप'* धर लिया। अर्थात् मशक-समान छोटे हो गये। (ख) *'मुठिका एक महाकपि हनी'* पर प्रसङ्ग छोड़ा था। बीचमें लङ्किनीकी दशा, उसकी वार्ता और रामकृपाका माहात्म्य कहा। अब पुनः वहींसे प्रसङ्ग उठा हैं। प्रथम *'अति लघु रूप'* धरकर लङ्काको चले तब नृसिंहजीका स्मरण किया, यथा—*'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी',* अब नगरमें प्रवेश करनेके समय भगवान्‌को स्मरण करना कहा। नगरके बाहर बहुतसे रक्षक थे; उनसे बचनेके लिये नृसिंहजीका स्मरण किया; क्योंकि नृसिंहजीका अवतार केवल भक्तको रक्षाके लिये हुआ। भगवान् (=षडैश्वर्ययुक्त) का अब स्मरण किया कि लङ्काका ऐश्वर्य देखकर मन मोहित न होने पावे। अथवा लङ्कामें प्रवेश कठिन है; अतएव पुनः-पुनः स्मरण करते हैं। ['भगवान्' शब्दकी व्याख्या बालकाण्ड १३ (४) में विस्तारपूर्वक लिखी गयी है, पाठक वहाँ देखें। प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि रावण त्रैलोक्य-विजयी राजा है, उसके मुकाबलेमें न जाने किस समय किस गुणकी आवश्यकता पड़े, अतः उन्होंने समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यसे युक्त तथा उत्पत्ति, प्रलय, भूतोंकी गति और अगति एवं विद्या और अविद्याके जाननेवाले 'भगवान्' का स्मरण किया जिसमें वे जिस समय जिस गुणकी आवश्यकता हो उसकी शक्ति दे दें]—*'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा'* इति। हनुमान्‌जीने अगणित योद्धा देखे पर इनको किसीने न देखा। तात्पर्य कि ये अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे जा रहे हैं और वे विशालरूपसे खड़े हैं। वा, रातका समय है इससे न देख पाया। पुनः, यह भी भाव है कि अगणित योद्धा देख पड़े पर सीताजी कहीं न देख पड़ीं।

नोट—२ हनुमान्‌जी स्वयं महावीर योद्धा हैं; अतएव उनकी दृष्टि योद्धाओंपर अवश्य पड़ती थी। इसमें यह भी ध्वनि है कि अपना प्रतिभट कहीं न देखा।

शंका—सम्पातीने तो बताया था कि वे अशोक-वाटिकामें हैं तब ये मन्दिर-मन्दिर क्यों ढूँढ़ते फिरे?

उत्तर—उन्होंने सोचा कि दिनमें वाटिकामें रहीं, रातमें रावणके स्थानमें होंगी। आगे यह बात स्पष्ट है, यथा—*'सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही॥'* रावणके महलमें उनका होना सम्भव था। इसीसे कहा कि मन्दिरमें वैदेहीको न देखा। अथवा, चोर चोरीकी वस्तु अन्यत्र ही रखता है इससे नगर भरके घर-घर ढूँढ़ डाले। (पं० रा० कु०) पुरके बाहरके योद्धाओंका वर्णन पूर्व हुआ, अब दिखाते हैं कि पुरके भीतर घर-घरमें अनेक रक्षक हैं।

[यह भी हो सकता है कि उनको मालूम नहीं है कि अशोकवाटिका कहाँ है; अतः वे घर-घर ढूँढ़ रहे थे। वा, श्रीरामजीकी आज्ञा थी कि जानकीजीको देखना, उनको कुशल सुनाना, दुर्ग देखना और शत्रुकी गति देख आना। यथा—*'दई हौं संकेत कहि, कुसलात सियहि सुनाउ। देखि दुर्ग, बिसेषि जानकि, जानि रिपु-गति आउ।'*—(मुद्रिका वचन गी० सुं० ४); इसीके अनुसार उन्होंने घर-घर देखा, कोई स्थान न छोड़ा।]

वे० भू०—वास्तु-शास्त्रोंमें उपवनके कई भेद बतलाये गये हैं उनमें ग्रामोपवन और गृहोपवन दो प्रधान हैं। ग्रामकी परिधि-(परकोटे-) से मिला हुआ ग्रामके बाहर जो सार्वजनिक या राजकीय उपवन हो वह ग्रामोपवन है और जो घरके ही एक भागमें स्थित हो, वैयक्तिक हो, उसे गृहोपवन कहा जाता है। प्राचीनकालमें सार्वजनिक उपवनोंमें देवमन्दिर, तालाब, बावड़ी, बैठक-दालान, अनेक प्रकारके दर्शनीय वृक्ष-खण्ड रचित गिरि-शृङ्ग, अनेक पुष्प, लतामण्डप, कुञ्ज आदि होते थे। उन सार्वजनिक उपवनोंका भ्रष्ट रूप आज पार्क है। गृहोपवनमें लतामण्डप, पुष्पोद्यान, लघु वापिका, दर्शनीय वृक्षादि होते थे। गृहोपवनका ही भ्रष्ट रूप आजका कम्पाउण्ड (हाता) है। दोनों तरहके उपवनोंमें चारों तरफ कुछ विशिष्ट वृक्ष हुआ करते थे जिनके नामसे उन उपवनोंकी ख्याति हुआ करती थी। जैसे जिनके चारों ओर आम्रवृक्ष होते थे वे आम्रोपवन, जिनके चारों ओर चम्पाके वृक्ष वे चम्पकवन, ऐसे ही जम्बूवन, चन्दनवन, अशोकवन, तमालवन, पनसवन आदि कहे जाते थे। उपवनोंमें प्राय: लोग अवकाशके समय दिवा मनोरञ्जन करते थे, विशेषावसरोंपर रातको भी उपवनोंमें रह जाते थे।

उस दिन सम्पातीने वानरोंसे केवल अशोक उपवनमें सीताजीका उस समय बैठना बतलाया था कि इस समय अशोक उपवनमें बैठी शोक कर रही हैं पर यह नहीं बतलाया था कि वह अशोक उपवन ग्रामोपवन है या गृहोपवन; और वह लङ्कामें किस स्थानपर, किस घरके पास अथवा लङ्कानगर-(बस्ती-) के किस दिशामें कितनी दूरपर है। लङ्कामें तो अनेकों उपवनोंका होना सम्भव है। वह अशोक उपवन कहाँ है यह श्रीहनुमान्‌जीको ढूँढ़ना पड़ा। सम्पातीने दिनके समय बताया था, सम्भवत: वह अपराह्णकाल था। सम्पातीके जानेके किञ्चित् देर बाद ही हनुमान्‌जीको समुद्रोल्लङ्घन करना पड़ा था। उस पार पहुँचनेमें ही सूर्यास्तकी बेला आ गयी। रात्रिका समय उपवनमें निवासका है नहीं, अत: वन्दिनी सीताजीको रावणने किस घरमें रातको बन्द कर रखा है यह जाननेके लिये घर-घर ढूँढ़ना आवश्यक था। न तो श्रीहनुमान्‌जी सम्पातीका वचन भूले थे और न उन्होंने सम्पातीके वचनपर अविश्वास ही किया था। यदि विभीषणजीसे भेंट न हुई होती तो भी जिस युक्तिसे घर-घर खोज की थी उसी युक्तिसे अशोक उपवन भी ढूँढ़ ही लेते जैसा कि वाल्मीकीय रामायणमें वर्णित है।

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जी *'बल बुद्धि निधान'* हैं। वे जानते हैं कि गृध्रकी दृष्टि दिनमें ही कार्यक्षम होती है, वह रात्रिमें देख नहीं सकता, अत: उसने दिनका पता बताया, रातके निवासका नहीं।

गयउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं॥ ६॥
सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही॥ ७॥

अर्थ—फिर वे रावणके मन्दिरमें गये। वह अत्यन्त विलक्षण (सुन्दर) था जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ६॥ श्रीहनुमान्‌जीने उसे सोते हुए देखा, पर महलमें विदेहकुमारीजीको न देखा॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'दसानन मंदिर'* कहनेका भाव कि और जितने घर नगरमें देखे, उनको नहीं जानते कि किस-किसके थे पर इस महलको देखते ही जान गये कि यह रावणका है; इसीसे उसका नाम दिया गया। इसके पश्चात् फिर और भी सुन्दर मन्दिर देखा पर उसे भी न जाना कि किसका है इसीसे वहाँ फिर नाम नहीं दिया, यही कहा कि *'भवन एक पुनि दीख सुहावा।'* (ख) *'अति बिचित्र'* का भाव कि पुर और उसके सब घर विचित्र हैं पर यह *'अति बिचित्र'* है, यथा—*'कनककोट बिचित्र मनिकृत सुंदरायतना घना।'* वाल्मीकिजीने विचित्रताका विस्तारसे वर्णन किया है वह गोस्वामीजीने *'अति बिचित्र'* पदसे ही जना दिया है। वाल्मी० सु० स० ४ श्लोक २५—३० देखिये।

नोट—१ *'अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं'* इति। (क) रावणका विलास सैकड़ों इन्द्रोंके भोग-विलासके समान कहा गया है, यथा—*'सत सुरेस सम बिभव बिलासी'*, *'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास॥'* लङ्कापुरीमें मणिजटित स्वर्णके प्राय: सभी भवन थे और सभीका वैभव भोगावती और अमरावतीके समान था, यथा—*'कनक रचित मनिभवन अपारा। भोगावति जसि अहिकुल बासा। अमरावति*

जसि सक्रनिवासा॥' (बा० १७८) तब स्वयं रावणके महलका क्या कहना? सभी भवन विचित्र थे और यह राजभवन होनेसे अति विचित्र था। पुनः (ख) *'दसानन मंदिर'* कहकर जनाया कि और सब घर तो एक-एक मुखवालोंके थे और यही तो दशमुखवालेका निवासस्थान है, तब यह 'अति विचित्र' और 'अकथनीय' क्यों न हो? जैसे दशानन 'अति विचित्र' वैसे ही उसका महल 'अति विचित्र।'

मा० त० सु० कार लिखते हैं कि—*'कहि जात सो नाहीं।'* का भाव यह है कि 'यह भगवद्विमुखोंके सिरताजका घर है, इसीसे वर्णन नहीं किया गया।' पर यह भाव यहाँ प्रसङ्गानुकूल नहीं है।

नोट—२—*'गयउ दसानन मंदिर माहीं'* तामरस है, *'अति बिचित्र'* द्रुतपा है और *'सयन किये'''बैदेही'* पायकुलक है। (ब्र० च०)

टिप्पणी—२ (क) *'सयन किये देखा'*—इससे जनाया कि अर्द्धरात्रि बीत गयी है। क्योंकि अर्द्धरात्रितक सभा, राजकार्य और भोजन आदिसे छुट्टी पाकर सोते हैं। (ख) मन्दिर-मन्दिरमें अगणित रक्षकोंका देखना कहा, पर यहाँ रक्षकका होना न कहा। कारण कि नीति है कि जहाँ राजा सोवे वहाँ कोई न रहे। इसीसे अकेला देखा। यहाँ श्रीसीताजीका होना सम्भव था, इसीसे न देख पड़नेपर 'वैदेही' नाम दिया अर्थात् रावणके भयसे या श्रीरामवियोगमें देहरहित न हो गयी हों।

नोट—३ *'न दीखि बैदेही'* कहकर यह भी सूचित किया कि मन्दोदरी, सुर-नाग-नर-कन्याएँ, इत्यादि सब यहाँ सोती देख पड़ीं, केवल श्रीजानकीजीको वहाँ नहीं देखा।

'मंदिर महुँ न दीखि बैदेही' इति। इन शब्दोंसे यह अनुमान होता है कि वे वैदेहीजीको पहचानते थे। इसका प्रमाण किष्किन्धाकाण्डके सुग्रीवजीके वाक्यमें मिलता है। उन्होंने कहा है कि *'मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा। गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥'* (४। ५) और श्रीहनुमान्‌जी भी उन मन्त्रियोंमेंसे एक हैं।

यदि ये मानें कि इतनी दूरसे देखे हुए पहचान लेना कठिन है तो दूसरा उत्तर यह है कि श्रीहनुमान्‌जी बुद्धिनिधान हैं वे अपनी बुद्धिसे जान सकते थे कि इनमें सीताजी हैं या नहीं। इसकी पुष्टि वाल्मी० रा० से होती है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि उन्होंने यहाँकी स्त्रियोंको देखा—परन्तु श्रेष्ठकुलमें जन्म लेनेवाली, धार्मिक राजकुलमें पाली-पोसी, सङ्कल्पमात्रसे उत्पन्न कोमलाङ्गी, सनातन मार्गमें स्थित, श्रीरामजीके प्रति अनुराग रखने तथा उनका ध्यान करनेवाली, पतिके श्रेष्ठ मनमें सदा निवास करनेवाली, विरहतापसे पीड़ित सदा आँसू गिरानेवाली, मेघादिसे ढकी हुई चन्द्रकलाके समान, धूलमें लिपटी हुई 'सुवर्ण रेखाके समान श्रीसीताजीको न देखकर वे दुःखी हुए' (५। ५। २३—२७)—ये ही श्रीजानकीजीकी पहचानके चिह्न हैं। आगे सर्ग १० में लिखा है कि मन्दोदरीको देखकर एक बार उसीको 'सीता' समझ लिया। परन्तु किंचित् विचार करते ही उनका विचार पलट गया। वे सोचने लगे कि '**न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम्॥ नान्यं नरमुपस्थातुं सुराणामपि चेश्वरम्। न हि रामसमः कश्चिद्विद्यते त्रिदशेष्वपि॥**' (५। ११। २-३) अर्थात् श्रीरामसे अलग होकर वह सो नहीं सकती, भोग नहीं कर सकती, अलङ्कार धारण नहीं कर सकती, मद्यपान नहीं कर सकती, वह पर पुरुषके साथ जा नहीं सकती, चाहे वह देवेश्वर इन्द्र ही क्यों न हो, क्योंकि श्रीरामके समान देवलोकमें भी कोई नहीं है।—इस तरह बुद्धिसे विचारकर जान लिया कि इनमेंसे कोई सीता नहीं है। सम्पातीने भी यह पहचान बतलायी थी कि *'सीता बैठि सोचरत अहई'* इस लक्षणसे पहचान लिया कि सीताजी यहाँ नहीं हैं। अतः कहा—*'न दीखि बैदेही'*।

'वैदेही' शब्द देकर कविने वाल्मी० सर्ग १२ के '**सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी स्वशीलसंरक्षणतत्परा सती। अनेन नूनं प्रतिदुष्टकर्मणा हता भवेदार्यपथे वरे स्थिता॥**' (३) तथा सर्ग १३ के '**किं तु सीताथ वैदेही मैथिली जनकात्मजा। उपतिष्ठेत विवशा रावणेन हता बलात्॥**' (६) इत्यादि श्लोकोंका भाव भी सूचित कर दिया है। श्रीहनुमान्‌जी सोच रहे हैं कि 'अपने शीलकी रक्षामें तत्पर सती सीताको दुष्ट रावणने मार डाला हो, क्योंकि वह आर्योंके मार्गपर चलनेवाली थीं, वह तो सीता हैं, मिथिलापति विदेह जनकराजकी पुत्री

हैं। वह रावणको स्वीकार नहीं कर सकतीं, रावण जब आकाशमें लिये जाता रहा होगा उसी समय कहीं वह समुद्रमें न गिर गयी हों, अथवा रावणके बन्धनमें पड़नेसे प्राण न त्याग दिया हो। अथवा इस राक्षस वा राक्षसियोंने उनको खा न लिया हो।—ये सब भाव **'बैदेही'** शब्दमें आ जाते है।

श्रीहनुमद्विभीषणमिलन-प्रसङ्ग

भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥८॥

दो०—रामायुध* अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ।
नव तुलसिका† बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥५॥

अर्थ—फिर एक (और) सुन्दर महल दिखायी दिया। उसमें (एक) हरि-मन्दिर पृथक् बना हुआ था‡॥८॥ वह घर श्रीरामजीके आयुध-(धनुष और बाण-) से अंकित था (अर्थात् उसपर धनुष-बाणके चिह्न बने हुए थे)। उसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। वहाँ नवीन (हरे-भरे) तुलसीके वृक्षसमूह देखकर कपीश हनुमान्‌जी आनन्दित हुए॥५॥

टिप्पणी—१ ***'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर'''*** इति। (क) इससे ज्ञात होता है कि विभीषणजीका स्थान रावणके महलके समीप ही था। भाई हैं, इससे समीप ही इनको रहनेका घर दिया।

(ख) ***'एक'***=अद्वितीय, प्रधान। अर्थात् ऐसा सात्त्विकी स्थान लङ्काभर में नहीं है; यह एक ही है। (ग) ***हरिमंदिर'''*** इति। इससे ज्ञात हुआ कि त्रेतामें भी मूर्तिपूजन होता था, यथा—***'तीर तीर देवन्हके मंदिर'। 'भिन्न बनावा'*** से जनाया कि मन्दिर घरसे पृथक् होना चाहिये; पर गृहस्थीके घरसे न तो बहुत दूर हो और न बहुत ही मिला। क्योंकि दूर होनेसे राग-भोग-पूजा-सेवामें विक्षेप पड़ेगा और घरके भीतर ही होनेसे सूतक आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है। (घ) अन्य घरोंकी शोभा केवल तामसी और राजसी थी, इससे उन्हें देखकर श्रीहनुमान्‌जी प्रसन्न न हुए। इस मन्दिरकी शोभा सात्त्विकी और राजसी है; इसकी सुन्दरता 'हरिमन्दिर श्रीरामायुध और तुलसीवृन्द' है; अतएव सात्त्विकी श्रीहनुमान्‌जीको इससे आनन्द मिला। इसीसे इसको ***'सुहावा'*** कहा और औरोंको 'विचित्र' कहा था।

*"हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा'''*इति।*

शङ्का—रावणके भयसे शुभ आचरण कोई करने नहीं पाता था, यथा—***'तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना'।*** तो वह विभीषणको क्यों नहीं मना करता था? समाधान—क्योंकि रावण जानता है कि इसने ब्रह्माजीसे हरिभक्ति माँगी है; अतएव यह भजन करता है, बिना उसके रह ही नहीं सकता। (पं० रा० कु०)

गौड़जी—इसपर यह शङ्का की जाती है कि रावण हरिमन्दिर और विष्णु-भक्तिका विरोधी था फिर इसने लङ्कापुरीके भीतर ही हरिमन्दिर क्यों रहने दिया? इसका समधान यह है कि विभीषण रावणका वात्सल्यभाजन था। रावण उसे बहुत प्यार करता था और उसके विरोधी मतोंको भी सहता था। अपने परिवारमें और नातेदारोंमें वह अनेक विरोधी पाता था तो भी पारिवारिक मामलोंमें महात्मा रावण बड़ा सहनशील था। मन्दोदरीने अनेक बार विरोध किये, परन्तु उसकी सहज भीरुता समझकर वह कभी नाराज न हुआ। वह इस विषयमें बड़ा वीर और उदार था। उसने हनुमान्‌जीके और अङ्गदजीके तथा श्रीसीताजीके भी बहुत कड़े वचन सह लिये थे। कुम्भकर्णने भी रावणका विरोध किया था जिसे रावणने चुपचाप सह लिया। रावणमें पारिवारिक सहनशीलताकी मात्रा बहुत बढ़ी हुई थी। यही बात थी कि वह विभीषणके मतभेदको, उपासनाको और अपने महलके पास हरिमन्दिर रखनेको सहता था और कुछ नहीं कहता था।

---

* 'रामायुध' पाठ ना० प्र०, छ०, का०, भा० दा०, अ० दीपक आदिमें है। रामनाम—मा० म०

† 'तुलसीके' पाठ कोदोरामजीकी छपी पुस्तकमें है।

‡ अथवा 'इसकी बनावट राक्षसोंके अन्य मन्दिरोंसे भिन्न (दूसरे प्रकारकी) थी।' (पाँ०)

विभीषण भी रावणके बराबर बलवान्, तेजस्वी और विद्वान् होते हुए भी बड़े भाईका बहुत आदर और मान करते थे और उसके दुराचरणोंको बराबर सहते थे। विभीषणका वैष्णव और रामोपासक होना रावण उसी तरह बर्दाश्त करता था जैसे आजकल घोर आर्यसमाजी बड़ा भाई कट्टर छोटे भाईकी मूर्तिपूजाको अपने घरमें ही बर्दाश्त करता है और बाहर सब जगह मूर्तिका खण्डन करता फिरता है।

नोट—१ पं० रामकुमारजीकृत समाधान जो ऊपर लिखा गया है उसका भाव यह है कि रावण जानता है कि भगवन्तपदमें रतिका वरदान उसे मिला है और मुझे यह वरदान मिला है कि मनुष्य छोड़ और किसीसे मृत्यु न होगी। यदि विभीषणका वरदान मैं झूठा करनेका प्रयत्न करूँ तो वह झूठा हो नहीं सकता और अगर वह असत्य हो जाय तो मुझे भी जो वरदान मिला है कि नर-वानर छोड़ सबसे अजय और अमर रहूँगा यह भी वरदान फिर व्यर्थ हो जायगा। उसकी सत्यता फिर कैसे प्रमाणित हो सकती है? वह खूब समझता था कि यह भगवद्भजन छोड़ नहीं सकता चाहे जो कुछ मैं करूँ। अतएव वह रोकता न था। रावणने अङ्गदसे जो यह कहा कि मैं ब्रह्माके वचनको झूठ मानता हूँ वह उसके सच्चे हृदयकी बात न थी, केवल डींग थी। रावणका अन्तर और बाहर एक न था। मनमें तो वह महारानीकी चरणवन्दना करता था और ऊपरसे दुर्वचन कहता था। मनमें भगवान्को स्मरण करता था। ऊपरसे वैरभाव रखता था।

नोट—२ कुछ महानुभावोंने लिखा है कि वराह (?) पुराणमें कथा है कि लङ्कामें एक मूर्ति भगवान्की थी वह रावणने विभीषणको दी। जब वह देने लगा तब विभीषणजीने कहा कि मैं इस शर्तपर इसे ले सकता हूँ कि आप मुझे वचन दें कि मैं जैसा चाहूँगा वैसा पूजन आदि करूँगा, उसमें आप रोक-टोक न करेंगे। रावणने यह बात स्वीकार कर ली। इसीसे विभीषणजीके पूजा-पाठ; हरि-स्मरण-भजन और हरिमन्दिर एवं विभीषणके भवनपर रामायुध अङ्कित होनेपर कुछ रोकटोक न कर सकता था। पुनश्च यथा—*'रावण जीत्यो इन्द्रहि जाई। लूटि भंडार लंक महँ आई॥ नाती सुतन वस्तु सब दीन्ह्यो। प्रभु वराह मूरति यक चीन्ह्यो॥ दियो बिभीषन काहिं बुलाई। कही बिभीषन तब सिर नाई॥ जो मोहि देहु तो अस कहि दीजै। अपने मनकी सब करि लीजै॥ रावण कही करहु चित चाहा। तुम्है न होइ कछू दुख दाहा॥'*

तबहिं बिभीषण मुदित ह्वै नवमंदिर बनवाय। रामायुध अंकित भवन दिय बराह पधराय॥

धर्म अनेक करन सो लाग्यो। रह्यो न रावन के भय पाग्यो॥ समाधान ये युगल प्रधाना। विदित सरस्वति वायु पुराना॥'—(भक्तमाल रीवाँनरेश श्रीरघुराज सिंह)

वि० त्रि०—*'भवन एक''''बनावा'* इति। प्रश्न उठता है कि सबके घर तो मन्दिर थे, यथा—*'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा' 'गयउ दसानन मंदिर माही'* फिर विभीषणका घर मन्दिर क्यों नहीं, उसे भवन क्यों लिखा? उत्तर यह है कि '**भवनागारमन्दिरम्**' आदि सोलह नाम घरके हैं। सब पर्यायवाची शब्द हैं, चाहे मन्दिर कहिये चाहे भवन कहिये, बात एक ही है। पद्यरचनामें जो शब्द उपयुक्त होता है, वही रखा जाता है, *'भवन भवन प्रति करि सोधा'* अथवा *'गयउ दसानन भवन माहीं'* लिखनेसे छन्दोभङ्ग होता इसलिये मन्दिर लिखा, और *'मंदिर एक पुनि दीखि सोहावा'* लिखनेसे भी छन्दोभङ्ग होता, कविको इन बातोंपर ध्यान रखना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि '**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी**' यह आसुरी सम्पत् राक्षस लोग स्वयं अपनेको पूज्य समर्थ समझते थे, अपने घरको मन्दिर मानते थे, अतः (कवि) उनके घरको मन्दिर मानते थे। विभीषणजी दैवी सम्पत्के थे, '**मार्दवं ह्रीरचापलम्**' आदि गुण उनमें थे, वे न अपनेको पूज्य समझते थे, न अपने घरको मन्दिर समझते थे, उन्होंने घरसे अलग 'हरि मन्दिर' बनवाया था, इसे मन्दिर मानते थे, मन्दिर और भवनमें भेद माननेपर भी सुचारु रूपसे अर्थ बैठ जाता है, दैवी सम्पत् आसुरी सम्पत्का भेद खुल जाता है।

वेदान्तभूषणजी—*'लोक बेद मत मंजुल कूला।''''* हर बातमें लोकमत और वेदमतका प्रचार करना आवश्यक है। किसी-किसी वस्तु या बातमें लोक और वेद दोनोंमें प्रसङ्ग मिलता है और कहीं लोक-मतमात्र और कहीं वेदमतमात्रकी रीति बर्ती जाती है। मन्दिरके सम्बन्धमें वेद और लोक दोनों पक्षकी

बातें कही जा सकती हैं। वेदमतसे यह भाव है कि लङ्काके राक्षसगण तामसी भावनासे श्रीशिवजी एवं (निकुम्भिला) देवीजी आदिका पूजन करते थे। यदि सात्त्विक भावनासे श्रीशिव दुर्गादिकी पूजादि की जाय तो वह परम्परया ज्ञान, भक्ति एवं मोक्षप्रदायक होती है। शास्त्रानुसार अपने शयनकक्षसे देव-स्थान अलग होना चाहिये और सत्त्वप्रधान लोगोंका होता ही है। परन्तु राक्षस लोग तमःप्रधान होनेके कारण अपने शयनकक्षमें ही देवस्थापन किये हुए थे और देवस्थापित स्थान मन्दिर कहा ही जाता है, इसीसे लङ्काके राक्षसोंके शयनकक्षको मन्दिर कहा—*'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा'*''*। गयउ दसानन मंदिर माहीं।*''*सयन किये देखा कपि तेही॥'* परन्तु महाभागवत श्रीविभीषणजी सत्त्वप्रधान थे—'**विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः॥**' (वा० रा०) इसीसे श्रीविभीषणजीके इष्टदेवका स्थापन शयनकक्षसे अलग था। तभी भवन और मन्दिर अलग-अलग कहा गया—*'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥'* यह तो हुआ वेदमतसे भाव और लोक-मतसे यह भाव हुआ कि जहाँ दम्पति पति-पत्नी दोनोंकी स्थिति रहती है उसे मन्दिर शब्दसे व्यवहृत किया जा सकता है और जहाँ पति या पत्नी एक ही हों उसे भवन आदि ही कहा जा सकता है, मन्दिर नहीं। इसीसे गोस्वामीजीने शायद बालकाण्डके पुष्पवाटिका-प्रसङ्गमें एक बार भी गिरिजामन्दिर नहीं कहा। बार-बार प्रसङ्ग आनेपर गिरिजागृह, भवानीभवन आदि ही कहा, क्योंकि वहाँ शिवजीका स्थापित रहना नहीं कहा है, अकेले भवानीका ही स्थापित होना कहा गया है। लङ्काके सभी राक्षस वीर अपने घरोंमें (उस हनुमद्-भ्रमणके समय) थे और श्रीविभीषणजी उस समय घरमें अकेले थे। उनकी पत्नी सरमा अशोकवाटिकामें श्रीजानकीजीकी सेवामें लगी रहती थीं, इससे सब राक्षस वीरोंके घरको मन्दिर और श्रीविभीषणजीके घरको भवन कहा।

प० प० प्र०—राक्षसोंके निवासस्थानोंको मन्दिर कहकर कविचूड़ामणिने श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें अपनी उपास्य-भावना और श्रीहनुमान्‌जीकी उपस्थितिमात्र तथा दृष्टिपातसे क्या लाभ होता है यह भी दिखाया है। जहाँ शिव, हनुमान् वा रामजीकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपस्थिति होती है वहाँ मानसमें 'मंदिर' शब्द प्रयुक्त है। जब पाषाणादिकी मूर्तिकी स्थापनासे स्थान मन्दिर (पूजा-स्थान) बन जाता है तब 'जिस सदनमें वे साक्षात् खड़े हैं, जहाँ उनका चरणरज पड़ा है उसको मन्दिर कहना अनुचित है, ऐसा कौन कहेगा? श्रीहनुमान्‌जीके प्रवेशसे उनके दृष्टिपातसे और उनके अंगस्पृष्ट पवनके स्पर्शसे सब लङ्कावासी पावन और मोक्षके अधिकारी हो गये। सब मोक्षको प्राप्त होंगे। अतः सबके भवनोंको 'मंदिर' कहा। यह शब्द ३५ (पैंतीस) बार ग्रन्थमें आया है।

विभीषणजीके भवनको मन्दिर न कहा, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी इसके भीतर नहीं गये। जब उपास्य-मूर्ति अन्दर नहीं है तब उस भवनको मन्दिर कौन कहेगा? जब प्रवेश किया तब विप्ररूपसे, हनुमान्‌रूपमें नहीं! अतः उसे मन्दिर कहनेका अवसर ही नहीं मिला।

* *'रामायुध अंकित गृह'* इति।*

श्रुतियोंमें सुना जाता है कि—धनुषबाणसे अङ्कित होनेवाला मनुष्य ही उत्तम संस्कारयुक्त होकर सम्पूर्ण वेदोंका अधिकारी बनता है। वही धर्ममार्गपर चलनेकी शक्ति प्राप्त करके संसाररूप महासमुद्रको जीत लेता है। वह अपने काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओंको निर्मूल करके मोक्षको प्राप्त करता है; क्योंकि भगवद्‌बाण उसे सब पापोंसे बचाते हुए भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है। और जिसका शरीर भगवत्-आयुधसे अङ्कित नहीं रहता, वह कभी निष्पाप नहीं रह सकता, इसलिये ब्रह्मको भी नहीं प्राप्त कर सकता। अतएव मोक्षाभिलाषियोंको सर्वदा तप्त धनुष-बाण धारण करने चाहिये। प्रमाण, यथा—'**धन्वना गा धन्वनाऽऽजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ सुपर्णं वस्ते मृगोऽअस्या दन्तो गोभिः सन्नधा पतति प्रसूता। यत्र नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म य्ँसन्॥ ऋजीते परि वृङ्धिनोऽश्मा भवतु न स्तनूः। सोमोऽअधिब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥**'—(यजुर्वेद अ० २९ मं० ३९, ४८, ४९) '**पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदा मोऽअश्नुते शृतास**

इद्वहन्तस्तत्समाशत॥' (ऋग्वेद मं० ९ सूक्त ८३ ऋचा १); **'चमूषच्छ्येनश्शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्सः आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सचमानस्समुद्र तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥'** (सामवेद उत्तरार्चिक अ० ९ प्रपाठक ५ मन्त्र ३)। रामपटलमें भी कहा है—**'पशुपुत्रादिकान्सर्वान्गृहोपकरणानि च। अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम्॥'**—इसके अनुसार पशु, पुत्र, घर और घरकी सब सामग्री आदिको भी आयुधाङ्कित करा देना वैष्णवोंका धर्म बताया गया है। पुनः, जो जिस देवताका उपासक होता है उसका चिह्न धारण करता है, इसीसे विभीषणजीने श्रीरामायुध अङ्कित किये। यथा—**'रामायुधाभ्यां सीतया मुद्रया सह। अङ्किता ये महाप्राज्ञा नित्यमुक्ताश्च मुक्तिदाः॥ 'मुनेरस्मिन् भारते वर्षे चापबाणाङ्किता नराः। स्वपरं कुलसाहस्रं तारयन्ति सुखेन वै'॥ 'सर्वैर्गुणैर्नियमसंयमनित्ययुक्तो निःकल्मषस्सकलसिद्धिकरश्च नित्यम्। यो नाङ्कितो धनुश्शरैर्न च मन्त्रराजस्योपासको न स जनो रघुनन्दनस्य।** (महाशिवसंहिता)

टिप्पणी—२ ***'नव तुलसिका बृंद तहँ'''*** इति। (क) सन्त हरिमन्दिरके पास तुलसी अवश्य लगाते हैं। यथा—***'तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥'*** हनुमान्जी भक्त हैं, अतः सात्त्विक स्थान देख हर्ष हुआ। (ख)***'देखि हरष कपिराइ'*** इति। भाव यह कि राज्य पाकर***'कपिराइ'*** नहीं हुए, किन्तु भक्तिकी श्रेष्ठतासे सबके राजा हैं। वानरोंमें ऐसा रामोपासक दूसरा नहीं।* (ग) ऊपर जो ***'सुहावा'*** कहा उसीकी व्याख्या इस दोहेमें है।

नोट—३ (मा० त० सु०) नव तुलसीके वृन्दसे सूचित किया कि तुलसी सेवारूप कैंकर्यमें जलादि सिञ्चन सर्वदा उपयुक्त और भक्तोंका परम अभीष्ट धर्म है! ***'बृंद'*** का भाव यह है कि पुष्पोंके शत आवरणोंसे वेष्टित तुलसीवाटिका लगी थी, जिससे निज इष्टदेवके रहनेका स्थान जानकर हरषे। यथा—**'तुलसीवाटिका यत्र पुष्पान्तरशतावृता। शोभते राघवस्तत्र सीतया सहितः स्वयम्॥'** ***'नव'*** पदका भाव यह है कि सेवासहित भगवदाराधनके भावयुक्त तुलसीको देखकर हर्ष हुआ। तात्पर्य कि तुलसी कोमल मञ्जरीयुक्त ही भगवान्को अर्पण की जाती है।

'रामायुध अंकित''' यह चारों वक्ताओंका कथन है। दोहेमें लिखी सब बातें और हनुमान्जीके हर्षका स्थान यह सब सुयोग देख सब वक्ता आनन्दमें मग्न हो गये, अतः कहा कि ***'शोभा बरनि न जाइ।'***

पं०—हर्ष इससे कि कदाचित् इस मन्दिरमें सीताजी रहती हों, उन्होंने रामनाम, रामायुधसे इसे अङ्कित किया हो, तुलसी लगाया हो! वे न हुईं तो सन्त रहता होगा, उससे उनका पता मिल जायगा।

'तुलसिका बृंद'

आश्वमेधिक पर्वमें श्रीकृष्णजीने अपने अतिप्रिय पुष्पोंके नाम ये बताये हैं—कुमुद, करवीर, चणक, चम्पा, मालती, जातिपुष्प, नन्द्यावर्त्त, नन्दिक, पलाशके फूल और पत्ते, दूर्वा, भृङ्गक और वनमाला। सब प्रकारके फूलोंसे अच्छा उत्पल, उससे पद्म, पद्मसे शतदल, इससे सहस्रदल, उससे पुण्डरीक और हजार पुण्डरीकसे बढ़कर तुलसीका गुण कहा है। पूजाके सम्बन्धमें कहा है कि पुष्प न मिलनेपर तुलसीके पत्तोंसे पत्ते न मिलें तो उसकी शाखाओंसे, यह भी न मिले तो तुलसीकी जड़के टुकड़ोंसे मेरी पूजा करे। यदि वह भी न मिले तो जहाँ तुलसीका वृक्ष लगा रहा हो वहाँकी मिट्टीसे ही भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करे।—यह तुलसीकी महिमा है, इसीसे वैष्णवोंको यह प्रिय है।

पुनः, पद्मपुराण-सृष्टिखण्डमें श्रीशिवजीने कार्त्तिकेयजीसे कहा है कि लक्ष्मीजी और मेरे समान ही तुलसी भगवान्को परमप्रिय हैं। तुलसीदलके बिना दूसरे-दूसरे पुष्पों, पत्तों तथा चन्दन आदिके लेपोंसे

* जिस तरह आजके कुछ समय पूर्वतक भारतमें राजाओंमें दो भेद थे। एक सम्राट् और अनेक माण्डलिक थे। उसी तरह उस समय मनुष्योंमें तो था ही, अप्राकृत वानरोंमें भी दो भेद थे। श्रीसुग्रीवजी वानरसम्राट् थे और माण्डलिक कपीश अनेकों थे। उन अनेकों माण्डलिकोंमें श्रीहनुमान्जीके पिता श्रीकेशरीजी भी चौबीस अर्बुद वानरवाहिनीके राजा थे, ऐसा ग्रन्थोंमें उल्लिखित है। मानसके क्षेपकोंमें इसका वर्णन बड़े विस्तारके साथ दिया है। वानरराज केशरीके उत्तराधिकारी होनेसे श्रीहनुमान्जीको जहाँ-तहाँ 'कपीश', 'कपिराइ' आदि कहा है। (वे. भू.। सन् १९५१ ई०)

भगवान्‌को उतना सन्तोष नहीं होता। तुलसी उतारनेके मन्त्रमें तुलसीकी उत्पत्ति अमृतसे कही गयी है। फिर दूसरी जगह उनकी उत्पत्ति समुद्रमन्थनके उद्योगके समय विष्णुभगवान्‌के आनन्दाश्रुसे बतायी है।

पुनः भूमिखण्डमें कहा है कि—क्षीरसागरके मन्थनसे चार कन्याएँ प्रकट हुईं—लक्ष्मी, वारुणी, कामोदा और ज्येष्ठा। कामोदा अमृतकी लहरसे पैदा हुई। वही भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये भविष्यमें वृक्षरूप धारण करेंगी और परम पवित्र तुलसीके नामसे विख्यात होंगी। जो उसका एक पत्ता भी ले जाकर भगवान्‌को समर्पण करेगा, उसका भगवान् बड़ा उपकार मानेंगे और 'मैं उसे क्या दे डालूँगा?' यह सोचते हुए वे उसके ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे। (कुञ्जलोपाख्यान)

धार्मिक विचारोंके अनुसार श्री 'तुलसी' जीका महत्त्व कुछ ऊपर लिखा गया। प्राकृतिक व्यवहारमें भी तुलसी बड़ी भारी ओषधि है। परन्तु बड़े शोककी बात है कि आजकल इसकी प्रथा ही उठती जाती है। अंग्रेजी पढ़े साहब लोगोंके बँगलोंमें तो तुलसीका पत्ता ही नहीं। श्रीलमगोड़ाजीने बताया था कि अभी कुछ दिन हुए छपा था कि बंगालमें श्रीरामकृष्णमिशनके आश्रममें सर्पके विषके निवारणके लिये यह किया जाता है कि केलेका रस निचोड़-निचोड़कर जल्दी-जल्दी पिलाया जाता है और तुलसीकी पत्तियाँ पीसकर शरीरमें उसका लेपन किया जाता है और उसके रसकी नास लिवाई जाती है तथा उसका रस पिलाया भी जाता है। सेन्ट्रल-हिन्दू-कालेज मेगजीनमें मेरे विद्यार्थी-जीवनकालमें यह छपा था कि फ्रांस देशकी एक महिलाके काम करनेके लिये बागमें मजदूर नहीं मिलते थे; कारण कि उन्हें वहाँ मैलेरिया-ज्वर आने लगता था। जब वह भारतवर्ष आयी तो यहाँसे तुलसीका पौधा ले गयी और जाकर उसने वहाँ तुलसीके वृक्ष लगाये तो उसके बागका उपर्युक्त दोष जाता रहा।

ब्र० चं०—'*भवन एक पुनि*····।' द्रुतपा है। '*हरिमंदिर*····!' पायकुलक है। दोहा दोहरा है।

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥ १॥
मन महुँ तरक करै कपि लागा। तेहीं समय बिभीषन जागा॥ २॥

अर्थ—लङ्कामें निशाचरसमूहका निवास है। यहाँ सज्जनका वास कहाँ?॥ १॥ श्रीहनुमान्‌जी अपने मनमें इस प्रकार तर्क करने लगे। उसी समय विभीषणजी जागे॥ २॥

टिप्पणी १—(क) '*निसिचर निकर*' का भाव कि जहाँ एक भी खल होता है वहाँ सज्जन नहीं रहते तब अनेक खलोंके बीचमें एक सज्जन कैसे रह सकता है? '*निवासा*' और '*बासा*' का भाव कि जहाँ खलोंका निरन्तर निवास है वहाँ सज्जनका थोड़ी देर भी एक साथ रहना कैसे सम्भव है? पुनः निवास=विशेष वास। तात्पर्य कि जहाँ खलका विशेष वास है वहाँ सज्जनोंके सामान्य वासमें भी सन्देह है, क्योंकि सज्जन भूलकर भी खलकी सङ्गति नहीं करते, यथा—'*सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ॥*' (७। ३९। १) '*खल परिहरिय स्वान की नाईं॥*' (७। १०६) (ख)—'तर्क' करनेका कारण यह कि स्थानमें तो सब सज्जनोंके चिह्न हैं और खलोंके बीचमें निवास सज्जनका नहीं हो सकता। यदि कहो कि कोई खल ही होगा तो उसपर यह तर्क होता है कि खल होकर मन्दिर क्यों बनाता? रामायुधसे घरको अङ्कित क्यों करता? तुलसी और वह भी एक-दो नहीं, वृन्द-के-वृन्द क्यों लगाता? तुलसीकी सेवा क्यों करता?—यह सब तर्क है।—[पुनः, तर्क यह कि जहाँ धर्मका नाम नहीं, जहाँ सात्त्विक यज्ञके धुएँसे वैर, वहाँ उपासनाके चिह्न कैसे? कहीं लङ्किनीने तो मेरे साथ छल नहीं किया? उसीने तो यह माया मुझे फाँसनेके लिये नहीं रची? अथवा, उसने कहीं रावणको हमारी सूचना न दे दी हो और रावणने मुझे ठगनेको यह माया रची हो। यथा—'*अस कहि जाइ रचेसि मग माया। सर मंदिर बन बाग बनाया॥*' कालनेमिने ठगनेके लिये मन्दिर आदि रचा ही था। फिर उसपर यह तर्क हुआ कि मायाकृत होता तो मेरे हृदयमें हर्ष न उत्पन्न होता। (पां० मा० त० सु०)]

टिप्पणी २—'*तेहीं समय बिभीषन जागा*' इति। विभीषणजीके जागनेका समय आ गया। सज्जन प्रहरभर

रात रहे जागते हैं। यथा—*'पछिले पहर भूप नित जागा।'* (अ० ३८), *'बड़े भोर भूपतिमनि जागे।'* (बा०) इससे जान पड़ता है कि हनुमान्‌जीको नगरमें घूमते-घूमते तीन पहर रात बीत गयी थी, जब यहाँ पहुँचे। अथवा, उस समय विभीषणका जागना भगवान्‌की प्रेरणासे हुआ।

[☞ भगवद्भक्तको जब-जब असमंजस आ पड़ता है, तब-तब भगवान् इसी प्रकार कृपा करते हैं। यथा—*'तरु पल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥ तेहि अवसर रावन तहँ आवा।'* (५। ९। १-२), *'सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये॥'* (५। २४। ६) तथा यहाँ *'मन महुँ तरक करै कपि लागा। तेही समय'''॥'*—इस समय श्रीहनुमान्‌जीके मनमें तर्क-पर-तर्क उठ रहे हैं, तर्कका निराकरण तथा निवारण करनेवाला वहाँ कोई न था, कुछ निश्चय कर न पाते थे; अतएव भगवान्‌ने कृपा की, उसके निराकरणका योग लगा दिया। जय! जय! जय!!]

नोट—१ *'लंका निसिचर'''बासा'* और *'तेही समय बिभीषन जागा।'* पायकुलक है। *'मन महुँ तरक करै कपि लागा।'* चण्डी है। (ब्र० चं०)

नोट—२ शङ्का-निवारणार्थ मनमें चिचार करना 'वितर्क संचारी भाव' है। *'तेही समय बिभीषन जागा'* में 'समाधि अलङ्कार' है। (वीरकवि)

नोट—३ *'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ''''* में अयुक्त अलङ्कार है, यथा—*'जैसो जहाँ न बूझिये तैसो तहाँ जु होय। केशवदास अयुक्त कवि बरनत है सब कोय॥'* (कविप्रिया; मा० त० सु०)

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥ ३॥

अर्थ—उन्होंने (विभीषणजीने) रामनाम उच्चारण किया। कपि-(हनुमान्‌जी-) ने उनको सज्जन जाना और हृदयमें हर्षित हुए॥ ३॥

टिप्पणी—१ सज्जन जागनेपर नाम-स्मरण करते हैं, यथा—*'तजी समाधि संभु अबिनासी॥ रामनाम सिव सुमिरन लागे। जाना सती जगतपति जागे॥'* (१। ६०)—यहाँ सज्जनताके सब चिह्न कहे—अपने स्थानके पास हरिमन्दिर बनाया, रामायुधसे घर अङ्कित किया, तुलसी लगायी, ब्राह्ममुहूर्तमें जागकर रामनाम-स्मरण करते हैं।

टिप्पणी—२ *'हृदय हरष'* इति। (क) पहले स्थान देखकर हर्ष हुआ था, यथा—*'नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।'* और अब सज्जन जानकर हर्ष हुआ। खलसमूहके बीचमें वास होनेसे जो सन्देह हुआ था, यथा—*'लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥'* वह अब निवृत्त हो गया। ऊपरके चिह्नोंसे अन्तःकरणका चिह्न विशेष होता है। (क्योंकि बाहरी चिह्नोंसे धोखा हो सकता है। कालनेमि, रावण और राहु इसके उदाहरण हैं। आज भी कितने ही सज्जनका वेष धारण करके लोगोंको ठगते देखे जाते हैं। पर अन्तःकरणका चिह्न भावकी यथार्थताको प्रकट करनेवाला है।) इसीसे बाहरके चिह्न (रामायुध-अङ्कित गृह और नव तुलसिका-वृन्द) देखनेपर सन्देह रहा और जब प्रेमसे नामोच्चारण सुना तब सन्देह दूर हुआ। अथवा, (ख)—प्रथम हर्ष हुआ तदनन्तर तर्क करने लगे। जब मन तर्कमें लगा तब हर्ष न रह गया। अब नामोच्चारण सुना तब फिर हर्ष हुआ। पुनः (ग) *'हृदय हरष'* दीपदेहली न्यायसे दोनों ओर लग सकता है और विभीषणजीने हर्षपूर्वक स्मरण किया और कपिको हर्ष हुआ। पुनः बाहरी चिह्नोंको देखकर हर्ष हुआ और नामस्मरणसे हृदयके प्रेमको देखकर हृदयसे हर्षित हुए। अर्थात् पहले सामान्य हर्ष हुआ था, अब विशेष हुआ। सज्जनके चिह्नोंसे हर्ष हुआ कि इनसे हमारा काम होगा।

वि० त्रि०—*'हृदय हरष'''चीन्हा'* इति। 'खलमण्डलीमें सज्जन नहीं रह सकता, यह बात इतनी तथ्य है कि 'हरि-मन्दिर, रामायुध-अङ्कित गृह नव तुलसिका-वृन्द' देखनेपर भी हनुमान्‌जी कोई निश्चय नहीं कर सके, तर्क करने लगे कि खल भी अत्यन्त खलता करनेके लिये बाह्य आडम्बर साधु-सा रख सकते हैं, पर यहाँ तो कोई दूसरा सज्जन भी नहीं है और न आ सकता है, जिसके ठगनेके लिये इस आडम्बरकी आवश्यकता हो, इस प्रकार हनुमान्‌जी तर्क करने लगे तबतक विभीषणजी जागकर हरि-स्मरण करने लगे।

हनुमान्‌जी पहिचान गये कि यह सज्जन हैं। क्योंकि जो विचार करता हुआ आदमी सोता है, वही विचार लिये हुए उठता है, अर्थात् सुषुप्ति-कालकी अन्तिम भावना ही जाग्रत्‌की प्रथम भावना होती है, यह राम-राम कहता हुआ जागा है, अत: राम-राम कहता ही सोया होगा; यह अवश्य सज्जन है, रावणका मन्दिर देखा परन्तु हर्षित न हुए—क्योंकि उसमें सज्जनका वास नहीं था।

नोट—१ प० प० प्र० तथा सभी इसमें एकमत हैं कि 'जागनेपर यदि प्रथम ही राम-नामका उच्चारण बिना किसी प्रयत्नके होता हो तो समझ लेना चाहिये कि रामनाम हृदय और वाणीमें स्थिर हो चुका है। यह हरिभक्तिका प्रथम लक्षण है।

नोट—२ अ० दीपककार इस अर्धालीपर यह दोहा लिखते हैं—*'चली पंच रंग धाम ते रँगे पंच रँग गात। रँगी पंचरंग हृदय सुनि हर्षि उठी लपटात॥'* अर्थात् भक्तराज विभीषणजीके हृदय (परावाणी) रूपी धामसे निकलकर पञ्चरसोंके पञ्चरङ्गोंसे रँगा हुआ राम-नाम पश्यन्ती, मध्यमा होता हुआ जब वैखरीसे उच्चारण हुआ तब उनके शरीरमें सात्त्विक चिह्न गद्‌गद गिरा, रोमाञ्च और अश्रुपातादि उत्पन्न हो गये जिससे हनुमान्‌जीका हृदय भी रँग गया, अतएव विभीषणजीको सज्जन जानकर वे उनसे मिले।—रामनामके स्मरणसे उत्तम भक्तोंमें उपर्युक्त सात्त्विक भाव उदय होने चाहिये, नहीं तो *'हिय फाटहु फूटहु नयन जरौ सो तन केहि काम। द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम॥'* (दोहावली)

टिप्पणी—३ *'कपि सज्जन चीन्हा'* इति। श्रीहनुमान्‌जी कपटी और सज्जन दोनोंकी पहचानमें बड़े ही प्रवीण हैं। पूर्व सिंहिकाका कपट जान गये थे, यथा—*'तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा।'* और यहाँ सज्जनको पहचाना।

नोट—३ *'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा'* पायकुलक है। *'हृदय हरष····'* चण्डी है। (ब्र० चं०)

एहि सन हठि करिहौं पहिचानी। साधु ते होइ न कारज हानी॥४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने सोचा कि इनसे हठ करके (अर्थात् अपनी ओरसे) जान-पहचान करूँगा, क्योंकि साधुसे कार्यमें हानि नहीं होती॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'एहि सन हठि करिहौं पहिचानी।'* इति।—हठ करके पहचान करनेको कहते हैं। भाव यह है कि साधु प्राय: किसीसे जान-पहचान नहीं करते, यथा—*'सदा रहहिं अपनपउ दुराएँ। सब बिधि कुसल कुबेष बनाएँ॥'* (१। १६१) मैं अपने कार्यके लिये अवश्य जान-पहचान करूँगा। ये श्रीरामभक्त हैं और मैं श्रीरामजीका दूत हूँ, इस नाते मेरी-इनकी जान-पहचान होगी और हो जानी ही चाहिये। हमने इन्हें पहचान लिया पर ये भी जब हमें पहचान लें तब हमारा कार्य सिद्ध हो। [पुन: भाव कि यद्यपि यह लङ्काका मध्य है, रावणका महल समीप है, सशस्त्र राक्षस पहरा दे रहे हैं और प्रभात होना ही चाहता है, इत्यादि अनेक विघ्न उपस्थित हैं, तथापि मैं अवश्य जान-पहचान करूँगा, क्योंकि यह साधु है। (भा० त० सु०)]

टिप्पणी—२ *'साधु ते होइ न कारज हानी।'* इति। (क) श्रीहनुमान्‌जी सूक्ष्म कपिरूप धारण किये हुए हैं, जिसमें कोई पहचान न ले और प्रकट हुए बिना जान-पहचान हो नहीं सकती, साथ ही बिना जाने किसीसे जान-पहचान करना, परिचय देना, नीतिके विरुद्ध है; यथा—*'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आएहु बेगि न होइ लखाऊ॥'* (२। २७१)। पुन: बनाये हुए वेषको प्रकट कर देनेमें हानिका भय रहता है। जैसे रुद्रगण और शुकसारनको हानि पहुँची। रुद्रगणको नारदजीने शाप दिया और शुक-सारनको वानरोंने बाँधकर दु:ख दिया। उसपर कहते हैं कि *'साधु ते होइ न कारज हानी।'* जो पराया कार्य साधे वह साधु; तब कार्यमें हानि कैसे होगी? इसीसे यहाँ 'साधु' कहा। साधु और सज्जन पर्यायी शब्द हैं। पूर्व *'सज्जन चीन्हा'* कहा था उसको अब *'साधु····'* कहा।

नोट—१ *एहि सन····'* चण्डी है। *'साधु ते····'* से ६ (८) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०)

*श्रीहनुमद्विभीषण-संवाद *

मानस-हंस—हनुमान्‌जी और विभीषणजीके विषयमें दो प्रश्न होते हैं—(१) उसके प्रमाणका और (२) उसके प्रयोजनका। इसका विचार अब इसी क्रमसे होगा।' **विभीषणगृहं त्यक्त्वा सर्वं भस्मीकृतं पुरम्**' (अ० रा० ५। ४। ४४) और '**वर्जयित्वा महातेजा विभीषणगृहं प्रति**' (वाल्मी० ५। ५४। १६), इन प्रमाणोंसे निर्णीत है कि हनुमान्‌जीको विभीषणका महल परिचित था। आगे चलकर यह उल्लेख मिलता है—'**राज्यं प्रार्थयमानस्तु बुद्धिपूर्वमिहागतः। एतावत्तु पुरस्कृत्य युज्यते तस्य संग्रहः॥**'—(वाल्मी० ६। १७। ६७), ध्यानमें रहे कि यह उल्लेख उस समयका है जब कि विभीषण रामजीकी शरणमें आ गया था और उनको स्वीकार करनेके लिये राम-लक्ष्मणके अतिरिक्त बाकी सब प्रतिकूल थे और केवल एक हनुमान्‌जी ही उनकी सिफारिश जोरोंसे कर रहे थे। हनुमान्‌जीने इतना जोर लगाया, इससे स्पष्ट होता है कि विभीषणका हृद्‌गत उन्हें पूरा-पूरा विदित था। यह कोई कह नहीं सकता कि दूसरेसे पूछ-ताछ करनेपर उन्हें वह मालूम हुआ था, क्योंकि एक तो यह कि हनुमान्‌जी गुप्त दूत थे; इस कारण उनके लिये वैसा करना बिलकुल ही असम्भव था और दूसरी बात यह है कि इस तरह पूछ-ताछ करनेका वर्णन कहीं भी उपलब्ध नहीं। इन कारणोंसे यही अनुमित होता है कि हनुमान्‌जी विभीषणसे उनके महलमें एकान्तमें मिले थे।'''''विभीषणका महल उन्होंने बचा दिया, यह बात यदि स्वीकृत हो चुकी है तो हनुमान्‌जी और विभीषणकी भेंटके बारेमें स्वामीजीकी दृष्टिसे ही देखना पड़ेगा।

(२) उपर्युक्त भेंटके विषयमें सन्दिग्धता नहीं रही। अब उसका प्रयोजन देखना चाहिये। हनुमान्‌जी विभीषणको राज्याकांक्षी कह चुके हैं। पश्चात् रामजीने भी उसे वैसा ही ठहराया है। इसी बातको गोसाईंजीने स्वयं विभीषणजीहीके मुखद्वारा *'उर कछु प्रथम बासना रही'* इस प्रकार कहलाया है। उसपर *'मम दरसन अमोघ जग माहीं'* ऐसा कहकर तुरन्त ही *'राम तिलक तेहि सारा।'* इस तरह उसे लङ्कापति बनाकर रामजीने उसकी गुप्त वासना प्रकट कर दिखला दी।

विभीषणजीका राज्याकांक्षी होना तो एक बात हुई। अब दूसरी बात यह है कि वह राजनीतिनिपुण भी था। प्रमाण, यथा—*'नीति बिरोध न मारिय दूता', 'कही बिभीषन नीति बखानी', 'अति नयनिपुन न भाव अनीती।'* अब सोचिये कि ऐसा राज्याकांक्षी और राजनीतिज्ञ अर्थात् स्वार्थी, बुद्धिमान् और चतुर, विभीषण भाईके प्रत्यक्ष शत्रुके शरणमें अल्प भी पूर्व परिचय बिना एकाएक ही कैसे जा सकता है? कुछ-न-कुछ पूर्व अनुसन्धानके बिना ऐसी बात होना एकदम ही अस्वाभाविक दीखती है।

उपर्युक्त अस्वाभाविकत-दोष निकाल देना यही हमारी समझसे हनुमद्विभीषण-संवादका मुख्य प्रयोजन है। संवादसे विभीषणशरणागतिकी शृङ्खला जुड़ी जाती है और कथानककी त्रुटि साफ निकल जाती है! हमारी दृष्टिसे तो यह संवाद विभीषणशरणागतिकी प्रस्तावना ही है, जिसके कारण उसे (विभीषणशरणागतिको) इतनी रमणीयता आ सकी। ऐसी रमणीयता लानेवाली कविकल्पनाकी यथार्थ प्रशंसा हमारी समझसे हो ही नहीं सकती।

नोट—२ श्रीहनुमद्विभीषण-मिलाप यहाँ कराकर कविने वाल्मीकि आदिकी त्रुटियोंकी पूर्ति कर दी है। 'कविकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि कोई बात उसके देखने और मनन करनेसे छूटती नहीं थी'—इसका उदाहरण यह मिलाप भी कहा जा सकता है।

बिप्र रूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥ ५॥
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥ ६॥

अर्थ—(ऐसा मनमें विचारकर हनुमान्‌जीने) ब्राह्मणका रूप धरकर वचन सुनाये। सुनते ही विभीषणजी उठकर वहाँ आये॥ ५॥ प्रणाम करके कुशल पूछी—हे विप्र! अपनी कथा समझाकर कहिये'॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'बिप्र रूप धरि'''''* इति। सज्जन पहचानकर भी ब्राह्मणका रूप धारण करनेका भाव यह है कि सज्जन ब्राह्मणोंमें अत्यन्त प्रेम रखते हैं, यथा—*'ते सज्जन मम प्रानप्रिय जिन्ह के द्विजपद प्रेम', 'द्विजपदप्रीति धरम जनयत्री।'''जानेहु तात संत संतत फुर।'* (७। ३८)

नोट—१ मानसतत्त्व सुधाव्याख्याकारका मत है कि 'सज्जनस्वरूपके दृढ़ परिज्ञानके लिये विप्रतन धारण किया। यहाँ यह भी अभिप्राय है कि यदि यह राक्षस होगा तो अवश्य अनादर करेगा।' (पाँ०) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि—'रुद्र ब्राह्मण हैं, यथा—'**ब्रह्मकुलंकलंकशमनम्।**' और ये रुद्रावतार हैं। सज्जनसे कपट न करना चाहिये; अतः ये वानरशरीर छोड़ ब्राह्मणरूप धरकर मिले।'

टिप्पणी—२ शङ्का—श्रीहनुमान्‌जी सदा सबसे विप्ररूप धारण करके मिला करते हैं, यथा—'***बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ***', '***बिप्ररूप धरि बचन सुनाए***' और '***बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जिमि पोत।***' पर श्रीजानकीजीसे विप्ररूप धरकर न मिले, अपने (वानर) ही रूपसे मिले—यह क्यों?

समाधान यह है कि उनके पास यदि विप्ररूप धारण करके जाते तो उनको विश्वास न होता; क्योंकि लङ्कामें ब्राह्मणका गम्य नहीं है। दूसरे, विप्ररूपसे फिर निज रूप बनाते तो महान् सन्देह होता; वे यही समझतीं कि यह छली राक्षस है, छल करता है। अतएव वहाँ विप्ररूप न धारण किया—यह बुद्धि है।

टिप्पणी—३—'***बचन सुनाए।***' कौन वचन? विभीषणजीको रामनाम प्रिय है, इसीको हनुमान्‌जीने भी कहा। रामनाम सुनते ही वे उठकर आये। इससे पाया गया कि यह वचन उनको अति प्रिय लगे। क्या वचन सुनाये इसमें मतभेद है। किसी मुनिने वेद सुनाना लिखा है, किसीने सीताराम उच्चारण। कोई लिखते हैं कि 'हम ब्राह्मण हैं आपसे मिलना चाहते हैं' ये वचन कहे इत्यादि। इसीसे गोस्वामीजीने '***बचन सुनाए***' लिखा, जिसमें सबके मतका ग्रहण हो जाय।

टिप्पणी—४ विभीषणजीका '***राम राम सुमिरन***' करना कहा गया और श्रीहनुमान्‌जीका वचन 'सुनाना' कहा गया। इस भेदमें भाव यह है कि श्रीविभीषणजीका '***राम-नाम***' स्मरण करना उनके प्रेममय अन्तः-करणसे स्वतः हुआ है, किसीको सुनानेके लिये नहीं; और श्रीहनुमान्‌जीका वचन (श्रीराम-नाम) सुनाना एक निमित्तसे हुआ है कि विभीषणजी सुनकर आवें और मिलें। अतएव दोनोंके अन्तःकरणोंके पृथक्-पृथक् भाव पाठकको जाननेके लिये 'सुमिरन' और 'सुनाये' पृथक्-पृथक् शब्दोंका प्रयोग किया गया।

मा० त० सु०—निश्चयात्मक परिचय चार प्रकारसे होता है—अनुमान, शब्द, उपमान और प्रत्यक्षद्वारा। यहाँ चारों दिखाये। हरिमन्दिर और नव तुलसिका-वृन्दसे 'अनुमान' किया कि यह सज्जन है। '***राम राम सुमिरन***' इस शब्दसे और शास्त्रप्रमाणोंसे सज्जन-चिह्न निश्चय किया। प्रत्यक्ष करनेके लिये '***बचन सुनाए।***'

टिप्पणी—५ '***करि प्रनाम पूछी कुसलाई।***' इति। (क) विभीषणजीने इनका स्वरूप देखकर निश्चय कर लिया कि ये ब्राह्मण हैं, अतएव इनको प्रणाम किया। [पुनः, 'प्रणाम' करना और कुशल पूछना यह दोनों सज्जनके लक्षण हैं; यथा—'***सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी। प्रीतिसहित करि बिनय बिसेखी॥***' (२। १२९), '***द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री। ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥***' (७। ३८) इससे विभीषणजीका धर्ममें प्रेम सिद्ध हुआ और यह साधारण शिष्टाचार भी है। मा० त० सु०-कार लिखते हैं कि प्रणाम करनेका भाव यह है कि मैं आपके अधीन और आपका सेवक हूँ।] (ख) '***पूँछी कुसलाई***' इति। कुशल-प्रश्न शिष्टाचार है, तो भी यहाँ कुशल पूछना साभिप्राय भी है, क्योंकि लङ्कामें ब्राह्मणोंकी कुशल कहाँ? यहाँ तो निशाचर उन्हें खा ही डालते हैं, यथा—'***खल मनुजाद द्विजामिष भोगी।***' ब्राह्मणका रात्रिमें रक्षकोंसे बचकर लङ्कापुरीमें घूमना आश्चर्यजनक है; अतएव पूछते हैं कि आप कुशलसे तो यहाँतक आये? पुनः भाव कि मैं लङ्कापुरीमें आपके अनुकूल उद्योग करूँगा जिससे आपकी कुशल हो, अतएव '***बिप्र कहहु*** ''' (ग)—'***निज कथा बुझाई***' इति। '***बुझाई***' का भाव कि आपका लङ्कामें कुशलपूर्वक प्रवेश और आगमन आश्चर्यजनक है, मुझे कुतूहल हो रहा है अतएव समझाकर कहिये। जैसे हनुमान्‌जीको लङ्कामें हरिमन्दिर देखकर आश्चर्य हुआ वैसे ही विभीषणजीको ब्राह्मण देख आश्चर्य हुआ। [पुनः भाव कि आपके यहाँ आगमनका अवश्य कोई कारण-विशेष होगा, अतएव आप '***निज कथा***' (अपनी सारी व्यवस्था, अपना पूर्ण परिचय) संक्षेपमें नहीं किन्तु साङ्गोपाङ्ग कहिये, कुछ भी छिपाइये नहीं। (मा० त० सु०)] पुनः, '***बुझाई***' से जनाया कि मेरे कुछ भी समझमें नहीं आता।

वि० त्रि०—*'करि प्रनाम'''बड़ भागी।'* इति। विभीषणजी समझते हैं कि कुशलके लक्षण तो नहीं मालूम होते, बिना किसी भारी सङ्कटके इस सर्पभरी गुफामें कोई क्यों प्रवेश करने लगा, इन्होंने जो मुझे आवाज दी है, तो कोई सद्य: विपत्ति तो इनके पीछे नहीं है, अत: परिचय पूछनेके पहले कुशल पूछते हैं। तत्पश्चात् कहते हैं कि ब्राह्मण देवता! अपनी कथा समझाकर कहो। भाव यह कि जैसे तुम दिखायी पड़ते हो, वैसे तो तुम नहीं हो। ठीक ऐसा ही प्रश्न सरकारने विप्ररूपमें हनुमान्‌जीसे किया था, यथा—*'आपनि कथा कहा हम गाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥'* और तुम्हारे आनेका प्रयोजन क्या? या तो तुम स्वयं राम हो या रामके दास हो, जितनी प्रीति मुझे तुम्हारे दर्शनसे हो रही है, वैसी प्रीति मेरी दूसरेपर होती नहीं। **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।'** इन प्रश्नोंका उत्तर बिना रामकथा कहे, दूसरी रीतिसे हो नहीं सकता था, इसलिये हनुमान्‌जीने रामकथा कही। **'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे'** वाली बात नहीं है, प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर वही था, जो हनुमान्‌जीने दिया।

की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥ ७॥
की तुम्ह राम दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़ भागी॥ ८॥

अर्थ—क्या आप हरिभक्तोंमेंसे कोई हैं? (क्योंकि) मेरे हृदयमें आपके प्रति अत्यन्त प्रीति (स्वतः-स्वाभाविक ही) हो रही है॥ ७॥ अथवा क्या आप दीनोंपर अनुराग (प्रेम) करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी ही (तो नहीं) हैं, जो मुझे बड़ा भाग्यवान् बनाने आये हैं?॥ ८॥

नोट १—*'की तुम्ह हरिदासन्ह महुँ कोई।'''* इति। (क) लङ्कामें किसी ब्राह्मणका सकुशल प्रवेश करना असम्भव प्रतीत कर और इनको ब्राह्मणवेषमें देखकर संशयात्मक प्रश्न करते हैं। *'हरिदासन्ह महुँ कोई'* का भाव कि हरिदास नारदादि समर्थ हैं और सर्वत्र विचरते रहते हैं, अतएव हो सकता है कि आप उन्हींमेंसे कोई हों, जो वेष बदलकर यहाँ दर्शन देने आये हैं। *'कोई'* शब्द यहाँ पुरुषार्थवाची है; 'मुख्य' का अर्थ देता है; अर्थात् हरिदास तो कहनेको बहुत हैं परन्तु आप मुख्य जान पड़ते हैं, क्योंकि समर्थ हरिभक्त ब्रह्मर्षि ही यहाँ आ सकते हैं, अन्य नहीं। (ख)—*'मोरें हृदय प्रीति अति होई।'* इति। यह हरिदास समझनेका कारण बताया। ☞ जिसे देखकर हृदयमें स्वतः-स्वाभाविक सात्त्विक प्रीति उत्पन्न हो उसे हरिदास जानना चाहिये। जो उत्तम हरिदास होते हैं, उनके दर्शनसे उनके प्रति अत्यन्त प्रीति हो जाती है। इसी तरह हनुमान्‌जीको हरिजन जाननेपर अत्यन्त प्रीतिका बढ़ना कहा, यथा—*'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।'* (१३) *'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।'*—विभीषणजीने अभी जाना नहीं है, अत: उनके सम्बन्धमें *'होई'* कहा गया और श्रीसीताजीके सम्बन्धमें *'बाढ़ी'* शब्द देकर जनाया कि *'अति प्रीति'* तो देखते ही हो गयी थी, हरिजन जान लेनेपर वही प्रीति और बढ़ गयी। (ग) किसी बातका निश्चय न होना कि आप कोई हरिदास हैं या स्वयं श्रीराम हैं 'सन्देह अलङ्कार' है।

टिप्पणी—१ *'प्रीति अति'* का भाव कि 'प्रीति' तो सभीमें करना चाहिये पर साधु, ब्राह्मणमें 'अत्यन्त' प्रेम करना चाहिये, यथा—*'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती', 'संत चरन पंकज अति प्रेमा'* (आ० १६) हनुमान्‌जी साधु हैं और ब्राह्मणरूप धारण किये हैं, अतएव अति प्रीति हुई। हरिदासोंमें जब अत्यन्त प्रेम होता है तब श्रीरामजी मिलते हैं, यह ग्रन्थकारका यहाँ उपदेश है।

टिप्पणी—२ (क) *'राम दीन अनुरागी'* का भाव कि श्रीरामजी दीनोंपर अनुराग करके उनको स्वयं मिलते हैं, यथा—*'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्हीं कृपा जानि जन दीना॥'* (आ० ८) *'दास तुलसी दीनपर एक राम ही के प्रीति '*(वि० २१६)। (ख)—प्रथम सन्त मिलते हैं फिर उसके पीछे भगवान् मिलते हैं, यथा—*'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्हके चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन॥'* (वि० २०३) इसीसे प्रथम सन्त-(हरिदास-) का मिलना कहकर तब भगवान्‌का मिलना कहा। इसमें कारण

यह है कि सन्तोंके प्रथम मिलनेसे जीव निर्मल होकर हरिके प्राप्तिका अधिकारी होता है तब रामजी मिलते हैं। श्रीरामजीसे उनके दासोंका माहात्म्य अधिक है यथा—*'राम ते अधिक राम कर दासा'।*

वि० त्रि०—*'की तुम्ह हरिदासन्ह''''बड़ भागी'* इति। जिस भाँति रूप बदलनेपर भी खल नहीं छिपते, उसी भाँति रूप बदलनेपर भी साधु नहीं छिपते। यथा—*'किएहु कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥'* यद्यपि हनुमान्‌जीने विप्ररूप धारण किया है, फिर भी उनकी महिमा परम भागवत विभीषणसे छिपी न रही। वे प्रश्न करते हैं कि या तो आप 'हरिदास' हैं या स्वयं 'हरि' हैं प्रमाणमें विभीषणजी अपनी अन्तःकरण-प्रवृत्तिको ही देते हैं कि *'मोरे हृदय प्रीति अति होई'।* भाव यह कि जैसी प्रीति मुझे आपपर हो रही है, वैसी सिवा हरिदास या हरिके और कहीं होती नहीं। **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।'**

नोट—२ *'बिप्ररूप धरि''''अनुरागी।'* इति। इसपर अभिप्राय दीपककारका यह दोहा है—*'आदि मध्य अवसान हूँ संत सपति महिदेव। लखे बिभीषन ते उलटि आनंद ही के भेव॥'* (१५) भावार्थ यह है कि विभीषणजीने श्रीहनुमान्‌जीको आनन्दमें भीगे हुए तीन रूपोंमें देखा। आदिमें विप्ररूपमें देखा, अतः पूछा—*'बिप्र कहहु',* मध्यमें सन्त जानकर पूछा कि—*'की तुम्ह हरिदासन्ह''''*' और अन्तमें अपना स्वामी 'राम' जानकर पूछा—*'की तुम्ह राम'।*

दो०—तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम॥ ६॥

अर्थ—तब हनुमान्‌जीने सब रामकथा और अपना नाम कहा, सुनते ही दोनोंके शरीर पुलकित हो गये और श्रीरामजीके गुणसमूहका स्मरण करके दोनोंके मन मग्न हो गये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'तब'* अर्थात् जब विभीषणजीने कहा कि *'मोरे हृदय प्रीति अति होई'* यथा—*'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाखा॥'* (४। ५) (ख) विभीषणजीने तो इनकी कथा पूछी और इन्होंने रामकथा कही, अपनी कथा क्यों न कही? उत्तर—क्योंकि रामकथाके भीतर उनकी कथा भी है। रामकथाके कहते समय कथाके सम्बन्ध आनेपर अपना नाम भी कहा, इस प्रकार कि हनुमान् नामक वानर समुद्र पारकर लङ्कामें गया, घर-घर ढूँढ़ा। वह वानर हनुमान् पवनका पुत्र मैं ही हूँ। (ग) *'सब रामकथा'* अर्थात् वनगमन, सीताहरण और उनके ढूँढ़नेके लिये यहाँ आना, घर-घर ढूँढ़ना, यह सब कहा। (घ) *'सुनत जुगल तन''''*' इति। हनुमान्‌जी कथा कहनेसे और विभीषणजी सुननेसे पुलकित हुए। [☞ रामचरितके कथन और श्रवणसे पुलक और आनन्द होना रामचरणानुरागियोंका लक्षण है, जिनको ऐसा होता है वे सुकृती माने गये हैं और जिनको नहीं होता उनका जन्म व्यर्थ माना जाता है, यथा—*'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी।'* (बा०) *'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'* (बा०) *'कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय। सुने न पुलकि तनु कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंसराय॥'* (विनय०) ग्रन्थमें वक्ताओं और श्रोताओं दोनोंमें यह गुण दिखाया गया है। 'रामकथा' सुनकर इष्टदेवके 'गुणोंका स्मरण' कर प्रेममें मग्न होना 'ईश्वरविषयक रतिभाव' है।] (ङ) यहाँ दोनों महात्माओंका तन-मन-वचनसे प्रेममें मग्न दिखाया। *'तन पुलक', 'मन मगन'* और *'तब हनुमंत कही'* यह वचन।

नोट—यह दोहा दोहरा-मिश्रित है (ब्र० चं)।

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्ह महुँ जीभ बिचारी॥ १॥

अर्थ—फिर विभीषणजी बोले—हे पवनसुत! हमारी रहनी सुनो, जैसे दाँतोंके बीचमें बिचारी जिह्वा (रहती है वैसे ही दंशकोंके बीचमें मैं रहता हूँ)॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) *'पवनसुत'*—इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने अपना नाम बताकर अपनेको पवनका पुत्र भी बताया, यथा—*'मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥'* (७। २। ८) [पुनः, *'पवनसुत'* का भाव कि पवनसे कोई बात छिपी नहीं रहती। पुनः, पवन सबका प्राणाधार है। तुम पवनके पुत्र हो अतः तुमसे कुछ छिपा नहीं है और तुम मेरे प्राणोंके रक्षक हुए।—(मा० त० सु०, पाँ०)] (ख) *'सुनहु रहनि हमारी'* इति। जब सत्सङ्गप्राप्तिसे सुख मिला तब कुसङ्गसे जो दुःख मिलता है वह कहने लगे। बिना हनुमान्‌जीके पूछे ही विभीषण अपने दुःखकी कहानी कहने लगे। इसमें गूढ़ अभिप्राय अपनी दीनता दिखाकर रामदूतकी कृपा सम्पादन करनेका है। [यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलङ्कार' है। (वीर)] (ग) इस प्रसङ्गमें विभीषणजीने अपने लिये सर्वत्र एकवचनका प्रयोग किया है। यथा—*'मोरे हृदय प्रीति अति होई'* (१) *'आयहु मोहि करन बड़भागी'* (२), *'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा'* (३) *'अब मोहि भा भरोस हनुमंता'* (४) *'तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा'* (५); पर यहाँ बहुवचन *'हमारी'* कहा। इस भेदका तात्पर्य यह है कि यहाँ *'हमारी'* पद देकर परिवारसहित अपनेको दुःखी सूचित करते हैं। यही बात श्रीरामजी पूछेंगे, यथा—*'कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥'* (५। ४६) [*'सुनहु.........'* पायकुलक है, *'जिमि दसनन्ह..............।'* चण्डी है। (ब्र० चं०) *'जिमि दसनन्ह..........'* में उदाहरण अलङ्कार है।]

टिप्पणी—२ *'जिमि दसनन्ह महुँ जीभ बिचारी।'* इति। भाव कि हमको जीते-जी ही यमयातना है। यहाँ 'दशन' शब्दसे यमपुरी एवं यमराजका भावार्थ जनाया, विश्वरूपमें 'दशन' यमरूप कहे गये ही हैं, यथा—*'अधर लोभ जम दसन कराला।'* (६। १५) श्रीरामजीने भी यही बात कही है, यथा—*'बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥'* (५। ४६)

नोट—१ दशनोंको यमराज कहनेमें आशय यह है कि जैसे यमराज पापियोंको दण्ड देनेको सदा उद्यत रहते हैं वैसे ही ये सब राक्षस धर्मनिर्मूल करनेमें तत्पर रहते हैं; यथा—*'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावइ रहै न पावै धरि सब घालै खीसा॥'* (१। १८३) पुनः भाव कि दाँत हड्डी है जो कठोर होती है, वैसे ही राक्षस कठोर हैं। दाँत बहुत हैं वैसे राक्षस भी बहुत हैं। जीभ दाँतोंके बीचमें बहुत बच-बचाकर रहती हैं, वैसे ही कठोर खलोंके बीच निवास होनेसे हमें क्षण-क्षण अपनेको बचाते ही बीतता है। प्र०

नोट—२ *'जीभ बिचारी'* का भाव कि—'इसको कुछ 'चारा' (इलाज, वश) नहीं है, बन्दमें पड़ी रहती है। अथवा, 'विचारी अर्थात् बहुत विचारपूर्वक निर्वाह करती है।' (पाँ०) भाव कि जरा भी चूकी तो कटी।

नोट—३ जैसे दाँतोंको यम कहा गया है, वैसे ही जिह्वाको *'अंबुपति'* कहा है, यथा—*'आनन अनल अंबुपति जीहा।'* (६। १५) जलसे ही रस होता है, यथा—*'बिनु जल रस कि होइ संसारा।'* और रसना जीभका एक नाम है, यह दोनोंमें सम्बन्ध है। जैसे जलसे सबका हित होता है, यथा—*'होइ जलद जगजीवनदाता'*; वैसे ही मैं सदा सबकी रक्षा और हित ही करता हूँ।

☞ नोट ४—श्रीतुलसीदासजीकी उपमाएँ स्वाभाविक और प्रत्येक दिनके अनुभवकी होती हैं। यह उनकी कलाकी विशेषता हो गयी है। यही कारण है कि उनके जितने पद जनश्रुति बन गये हैं, उतने कदाचित् ही किसी बिरले ही कविके सारे विश्वसाहित्यमें मिलेंगे। (लमगोड़ाजी)

प० प० प्र०—विभीषणजी साधु हैं, रावणादि खल हैं। यथा—*'साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥'* *'खल मंडली बसहु दिन राती।'* इस तरह इस छोटे-से दृष्टान्तमें कविने सन्तों और दुर्जनोंके सब लक्षण भर दिये हैं। दशन=दुर्जन। जीभ=साधु (अमानी दास) [स्वामीजीने दोनोंकी एक विस्तृत तालिका दी है। अनावश्यक समझकर मैंने उसे नहीं दिया। (मा० सं०)]। जीभ जब वैद्यसे कहती है कि दाँत बहुत कष्ट देते हैं तब वैद्य उनको उखाड़ देता है, वैसे ही साधुओंके कहनेपर श्रीरामजी निशाचरोंको निर्मूल

करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। यथा—*'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'*

टिप्पणी—३ *'बिचारी'* का भाव कि जैसे जीभ और दाँतोंका संयोग विधाताका ही किया हुआ है, जीभका उसमें कोई वश नहीं है; वैसे ही हमारा और राक्षसोंका सम्बन्ध विधाताका ही किया हुआ है; हमारा कुछ वश नहीं। तात्पर्य कि हम परवश कुसङ्गमें बसे हैं, जैसे जीभ दाँतको छोड़कर कहीं नहीं जा सकती, वैसे ही हम राक्षस-कुलमें उत्पन्न हुए; इनको छोड़कर कहीं नहीं जा सकते। जैसे अनेक दाँतोंके बीचमें जीभ एक, वैसे ही राक्षसोंके बीचमें विभीषण अकेले हैं और जैसे दाँतोंके जड़से उखड़ जानेपर जिह्वा बनी ही रहती है, वैसे ही सब राक्षस जड़से उखड़ जायँगे पर विभीषण बने रह जायँगे। *'बिचारी'* कहा, क्योंकि वह दाँतोंका कुछ नुकसान कर नहीं सकती, चाहे दाँत जब तब उसे काट ही क्यों न लिया करें।

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥ २॥

अर्थ—हे तात! मुझे अनाथ जानकर सूर्यकुलके नाथ श्रीरामजी क्या कभी मुझपर कृपा करेंगे?॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) विभीषणजी हैं तो भागवत-कृपापात्र पर कहते नहीं, यह उनकी दीनता है, कार्पण्य है। ऐसा ही श्रीभरतजीने कहा है—*'कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं।', 'सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥'* (७। २। १६) (ख) *'अनाथ'* कहनेपर भाव यह कि अनाथपर भगवान् कृपा करते हैं, यथा—*'सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो।'* (७। १३०) (ग) *'भानुकुलनाथा'* का भाव कि अनाथपर तो रघुकुलमात्र कृपा करता आया है और वे तो उस कुलके नाथ हैं, उन्हें तो अवश्य ही कृपा करनी चाहिये। अथवा, जैसे भानुके उदयसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही श्रीरामजीके उदयसे निशाचरतमका नाश होगा और हम सुखी होंगे, यथा—*'रामबान रबि उये जानकी। तमबरूथ कहँ जातुधानकी॥'* ' अथवा, *'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं'* अतः वे मुझ दीनपर कृपा करेंगे। [और भाव ये कहे जाते हैं—१—श्रीरामजी तो भानुकुलके भानु या नाथ हैं और मैं तमोकुल हूँ, ऐसेमें भी क्या वे कृपा करेंगे? (प्र०)। २—सूर्यकी किरण छोटे-बड़े सबपर बराबर एक-सी पड़ती है, वैसे ही मुझपर वे कृपा करेंगे। (पाँ०) ३—*'तात'* श्लेषार्थी है। एक तो प्रिय सम्बोधन है ही दूसरा भाव यह है कि मुझे तात (जलता हुआ) और अनाथ जानकर। (पाँ०) ४—यहाँ अधर्मरूप तमसमूह है, उसका नाश करके मुझे धर्मरूप प्रकाशमें बिठावेंगे। (वै०) ५—*'भानुकुलनाथा'* शब्दसे अपना और श्रीरामजीका कुल-सम्बन्ध जनाया। ब्रह्मा, पुलस्त्य, विश्रवा और विभीषण यह विभीषणकी कुलशाखा है, वैसे ही ब्रह्मा, मरीचि (ये पुलस्त्यके भाई हैं=कश्यप) और कश्यपावतार दशरथजी, श्रीरामजी—यह श्रीरामजीकी कुलशाखा है। और मरीचि=भानु। इस तरह अपना भानुकुलसे निकट सम्बन्ध दिखाकर सूचित किया कि जैसे भार्याको सनाथ करनेको आतुर हैं वैसे ही मुझ भाईको सनाथ करेंगे। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ विभीषणजी यहाँ रामजीके मिलनेमें सन्देह करके अपनी दीनता प्रकट कर रहे हैं कि जिस गुणसे प्रभु मिलते हैं वह हममें नहीं है। वह यह कि सुसङ्गसे मिलते हैं, यथा—*'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्हके चरन। तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन॥'*—(विनय०); सो प्रथम तो हमको सङ्ग अच्छा न मिला—(१)। दूसरे, हमारे कर्म बुरे हैं। कर्मका बिगड़ना आगे कहते हैं, यथा—*'तामस तन····'* अर्थात् हम पापी हैं, *'सहज पाप प्रिय तामस देहा'* और पापीको भगवान् नहीं मिलते, यथा—*'जो पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥'* (२) तीसरे, साधनसे भगवान् मिलते हैं, यथा—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। रामलखनसिय दरसनु पावा॥'* सो हममें कुछ साधन नहीं।—(३) पुनः प्रेमसे मिलते हैं; यथा—*'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा॥'* सो भी हममें नहीं, यथा—*'प्रीति न पदसरोज मन माँहीं'*—(४)।

तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं॥ ३॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥ ४॥

अर्थ—हमारा तामसी शरीर है, अतः कुछ साधन नहीं है और न मनमें श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रीति ही है॥ ३॥ हे हनुमन्त! अब मुझको विश्वास हुआ कि बिना भगवत्-कृपाके सन्त नहीं मिलते॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) कर्म, ज्ञान और उपासनाके बलसे भगवत्-कृपाका निश्चय करते हैं; अतएव यहाँ कर्म, उपासना और ज्ञान काण्डत्रयसे अपनेको रहित जनाया।—तामसीको उल्लूकी उपमा दी गयी है, यथा—*'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहिं तमपर नेहा॥'* (४५। ८) उल्लू सूर्यदर्शनसे विमुख होते हैं, वैसे ही तामसी जीव ज्ञानसे विमुख हैं। यथा—*'होहिं उलूक संत निंदारत। मोह निसा प्रिय ज्ञान भानु गत॥'* (उ०) अत: तामस तन, कहकर अपनेको 'ज्ञानरहित' जनाया। साधन कर्म है। अत: *'कछु साधन नाहीं'* कहकर अपनेको 'कर्मरहित' जनाया। भगवान्‌में प्रेम होना भक्ति है। अतएव *'प्रीति न पद सरोज''''* कहकर अपनेको 'उपासनारहित' जनाया।—इस तरह *'तामस''''नाहीं'* से अपनेको ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंसे रहित सूचित किया। बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि—तामस तनसे कर्महीनता कही, यथा—*'होइ भजन नहिं तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥'* और *'कछु साधन नाहीं'* से ज्ञानकी हीनता जनायी।

(ख)—*'कछु साधन नाहीं'* इति। भाव कि साधन सात्त्विक प्रकृतिवालोंसे बनता है और रजोगुणी प्रकृतिवालोंसे भी कुछ बन जाता है; पर तामसी प्रकृतिवालोंसे कुछ भी नहीं बनता।

(ग)—*'प्रीति न पदसरोज मनमाहीं।'* इति। श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम होना शुभ साधनका फल है, यथा—*'तव पदपंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥'* (७। ४९। ४) जब कुछ साधन ही नहीं तब प्रीति कहाँसे हो। अत: *'तामस तनु'* कहकर तब साधनरहित होना कहा और उसके पीछे प्रीतिका न होना।

(घ)—*'पदसरोज'* का भाव कि प्रभुके चरण कमलवत् हैं, उनमें मनको भ्रमर होकर लुब्ध रहना चाहिये, सो हमारा मन मधुप होकर उसमें नहीं लुभाता, यथा—*'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* (१। १७। ४) पदकमलमें प्रीति नहीं है; इससे अपने मनको मधुप न कहा। जहाँ पदकमलके साथ मनको कहा है वहाँ उसे भ्रमर कहा है, यथा—*'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥'* (१। १४८) *'लुबुध मधुप इव तजै न पासू', 'करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहै।'* (१। १३४)

टिप्पणी—२—*'अब मोहि भा भरोस''''* इति। (क) विभीषणजीने प्रथम पूछा कि कभी मुझ अनाथपर कृपा करेंगे, अब उसका उत्तर स्वयं ही देते हैं; क्योंकि यह उत्तर हनुमान्‌जीके मुखसे शोभित न होता इसीसे हनुमान्‌जी चुप रहे। और प्रश्नका उत्तर भी यही यथार्थ है जो विभीषणजी अब कह रहे हैं। हनुमान्‌जी ही उनके रामप्राप्तिके द्वार हैं। (ख) अब भरोसा हुआ, अर्थात् *'तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥'* 'इस कारणसे भरोसा न था, पर अब हुआ कि वे अवश्य मिलेंगे। (ग) *'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता'* अर्थात् चाहे ब्रह्माण्डभर खोज डालें तो भी नहीं मिलते और जब कृपा होती है तब घर बैठे सन्त मिल जाते हैं, यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* (७। ६९) ग्रन्थकार यहाँ उपदेश देते हैं कि जब इस तरह साधन करे, जैसे विभीषणजीने किया तब श्रीरामजी कृपा करें और तब सन्त मिलें।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीकी कथा सुनकर विभीषणजीने जान लिया कि ये रामदूत हैं, इनके द्वारा मेरा कल्याण हो सकता है, अत: अपना दु:ख और लाचारी कहकर कहते हैं कि मैं निराश था कि इसी भाँति दीन-दशामें मेरा जीवन व्यतीत हो जायगा, सरकारका दर्शन मेरे भाग्यमें नहीं है, पर तुम सन्त हो, तुम्हारे दर्शनसे भरोसा हुआ कि *'राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥'* रामजीने मुझपर कृपा की।

मा० त० सु०—*'हरि कृपा'* इति। *हरि*=जो भक्तोंका क्लेश हरता है। यथा—*'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी।'* वैसे ही यहाँ सन्त दर्शन देकर विभीषणजीका क्लेश हरण किया। इसीसे *'हरि'* कहा।

नोट १—तत्त्वानुसन्धानद्वारा विभीषणका यह निश्चय करना कि बिना भगवान्‌की दयाके सन्तजन नहीं मिलते 'मतिसञ्चारी भाव' है। उत्तरोत्तर अपकर्ष-कथन रसगङ्गाधरके मतसे 'सार' अलङ्कार है। नोट २—*'तामस*

तनु''''माहीं' पायकुलक है। *'अब मोहिं भा''''* नयमालिनी है और *'बिनु हरि कृपा''''* ' से *'सुनहु बिभीषन प्रभु''''* ' (६) तक पायकुलक है। (ब्र० चं०) नोट ३—जनश्रुति बन जानेवाली सरलताका एक उदाहरण *'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'* भी है। यहाँ तो कोई अलङ्कार भी नहीं है। (लमगोड़ाजी)

जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥५॥

अर्थ—जब रघुवीर श्रीरामजीने कृपा की है तब आपने भी मुझे हठ करके दर्शन दिया। अर्थात् अपनी ओरसे 'वचन सुनाकर' दर्शन दिया॥५॥

टिप्पणी—*'रघुबीर'* शब्द पाँच प्रकारकी वीरताके सम्बन्धमें प्रयुक्त है, यथा—'**त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदास्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव च पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥**' इन पाँचोंके उदाहरण क्रमसे लिखते हैं—

(१) त्यागवीर — *'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।*
बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥' (२। १६५)

(२) दयावीर — *'चरनकमलरज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥'* (१। २११)

(३) विद्यावीर — *'श्रीरघुबीरप्रताप तें सिंधु तरे पाषान।*
ते मति मंद जो राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥' (६। ३)
(जलपर पत्थर तैरना-तैराना एक विद्या है)।

(४) पराक्रमवीर — *'सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीर।*
हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीर॥' (१। २७०)

(५) धर्मवीर — *'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।*
त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर॥' (५। ४५)

☞ ये पाँचों वीरताएँ श्रीरामजीहीमें हैं औरमें नहीं। इस प्रसङ्गमें विभीषणजी एवं हनुमान्‌जी दोनोंने कृपा करनेसे (अर्थात् उनकी दया-वीरतागुणको स्मरण करके) *'रघुबीर'* कहा, यथा—*'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा'* और *'मोहू पर रघुबीर कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन।'* दयावीर हैं, इसीसे हमारे-से अधमपर कृपा की। *'दरसु हठि दीन्हा'*, यथा—*'एहि सन हठि करिहौं पहिचानी।'* ये हनुमान्‌जीके ही वचन हैं। [*'दरसु हठि दीन्हा'*, इस पदसे श्रीभगवत्‌के अनुग्रहपूर्वक अपने भाग्यकी प्रबलता दरसाते हुए परम भागवत श्रीहनुमान्‌जीका अनुग्रह दरसाया। (मा० त० सु०)]

सुनहु बिभीषन प्रभु कइ रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥६॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना॥७॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी बोले—) हे श्रीविभीषणजी! प्रभु श्रीरामजीकी रीति सुनिये। वे सेवकपर सदैव प्रीति करते हैं॥ ६॥ आप ही कहिये कि मैं कौन परम कुलीन (उत्तमकुलोत्पन्न) हूँ? कपि हूँ, चञ्चल हूँ और सब प्रकारसे हीन (गया-गुजरा) हूँ॥ ७॥

टिप्पणी १—(क) *'सुनहु बिभीषन''''* ' से जनाया कि विभीषणजीने हनुमान्‌जीको प्रणाम करते समय अपना नाम बताया था—यह रीति है; यथा—*'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥'* (बा० २६९ (२) देखिये। इसी प्रकार हनुमान्‌जीने पितासहित अपना नाम उनसे बताया था, तब उन्होंने कहा था—*'सुनहु पवनसुत रहनि''''* ' (ख)—*'प्रभु कइ रीती।'* भाव कि ये प्रभु हैं, सब प्रकार समर्थ हैं, सेवक उनका क्या उपकार कर सकता है? सेवकपर बिना कारण प्रीति करना उनकी रीति है, कुछ सेवापर रीझकर प्रीति नहीं करते, यथा—*'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥'* (३। ४५। २) (ग) *'करहिं सदा'* का भाव कि प्रीतिको एकरस निबाहना कठिन है; पर प्रभु सदा एक-रस प्रीति करते हैं, आदिसे अन्ततक निबाहते हैं। यथा—*'को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा॥'*

(२। २४। ४) अर्थात् अपने सेवकको अपने बराबर मानते हैं, यथा—'***प्रीति बिरोध समान सन करिय नीति असि आहि।***' (६। २। ३) यदि बराबर न मानते तो हनुमान्‌जी सदा प्रीति करना न कहते। विभीषणजी तो केवल पूछते हैं कि कृपा करेंगे? और हनुमान्‌जी प्रभुका विलक्षण स्वभाव कहते हैं कि वे तो बराबरका मानकर सदा प्रीति करते हैं। अतएव आपपर भी वैसी ही प्रीति किये हुए हैं [क्योंकि प्रीतिकी रीति एक रघुनाथजी ही जानते हैं, दूसरा नहीं, यथा—'***जानत प्रीति रीति रघुराई।***' (विनय०) विभीषणजीने जो कहा था कि '***तात कबहुँ***···***करिहहिं कृपा***···', उसीके उत्तरमें हनुमान्‌जीने कहा—'***करहिं सदा***'; 'कभी करेंगे' की चर्चा कैसी? वे तो सदा किये रहते हैं। भाव यह कि वे तो ऐसे अहैतुकी कृपालु हैं कि अपराध होनेपर भी वे जान-बूझकर भी कभी उसपर ध्यान नहीं देते, यथा—'***रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥***'···'***सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥***' (१। २९) '***अपराध अगाध भएँ जनतें, अपनें उर आनत नाहिन जू।***' (कवितावली ७। ७)]।

मा० त० सु०—'***सुनहु***' का भाव कि यह मेरा निजी अनुभव है, इस वचनको सर्वसिद्धान्त जानकर सुनिये और ग्रहण कीजिये।

टिप्पणी—२ '***कहहु कवन मैं परम कुलीना।***···' इति। (क) विभीषणजीने '***तामस तनु***' कहकर अपनेको अकुलीन, कुलका हीन जनाया। उसपर श्रीहनुमान्‌जीका उत्तर यह है कि '***कहहु कवन मैं परम कुलीना।***' अर्थात् तुम्हारा तो केवल शरीर ही तामसी है, पर कुल तो उत्तम है। यथा—'***उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।***' (लं० २०) '***उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।***' (बा० १७६) तात्पर्य यह कि प्रभु श्रीरामजी कुलकी अपेक्षा नहीं रखते, वे तो केवल भक्तिका नाता मानते हैं; यथा—'***कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥ जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥ भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥***' (आ० ३५)

(ख) हनुमान्‌जीने प्रथम यह कहा है कि '***करहिं सदा सेवक पर प्रीती।***' प्रभु सेवकपर सदा प्रीति करते हैं। अब उसके उदाहरणमें अपनेहीको प्रत्यक्ष-प्रमाण-स्वरूप देते हैं कि '***कवन मैं***······' इत्यादि। अर्थात् मैं कुलसे हीन हूँ, कपि (अर्थात् पशु) हूँ—कैसा कि '***असुभ होइ जिन्हके सुमिरन ते बानर रीछ बिकारी***' (विनय०) और चञ्चल हूँ। चञ्चलता बड़ा भारी दोष है। इस दोषके होनेसे मनुष्यको कर्म, ज्ञान और उपासना किसीमें अधिकार नहीं रह जाता। इस तरह मैं कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे रहित हूँ। '***सबही बिधि हीना***' अर्थात् कुल, जाति, स्वभाव इत्यादि सब प्रकारसे हीन हूँ। अथवा, '***सब बिधि***' अर्थात् शुभकर्म करनेकी जितनी भी विधियाँ हैं, उन सबसे रहित हूँ। मिलान कीजिये—'***मैं पाँवर पसु कपि अति कामी।***' (कि० २१)

नोट—'***करहिं सदा सेवक पर प्रीती***' कुसुमविचित्रा है। अर्धाली ७ और ८ पायकुलक है। (ब्र० चं०)

प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥ ८॥

अर्थ—जो हमारा नाम प्रातःकालमें ले उसे उस दिन भोजन न मिले। [अर्थात् आप तो परम भागवत हैं, आपका नाम लेना मङ्गल है, आपका नाम तो प्रातःकाल लोग भागवतोंमें स्मरण करते हैं; यथा—'**प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणाद्यानेतानहं परमभागवतान्नमामि॥**' (पाण्डवगीता ८)

टिप्पणी—इस प्रसङ्गभरमें हनुमान्‌जीने सर्वत्र अपने लिये एकवचनका प्रयोग किया है, यथा—'***एहि सन हठि करिहौं पहिचानी***', '***कहहु कवन मैं परम***···' और '***अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।***' पर यहाँ '***हमारा***' बहुवचनवाची पद दिया। तात्पर्य यह कि मैं ही दोषयुक्त नहीं हूँ, मेरी जातिभर दोषयुक्त है; किसीका भी नाम लो तो भोजन न मिले। अपना दोष और भगवत्‌का गुण कहना यह कपिकी साधुता है, यथा—'***गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥***' (२। १३१)

नोट—१ यह कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। यहाँ अपने लिये अत्यन्त हीनतासूचक उदाहरण दे श्रीरामजीका परम कारुणिकत्व, परम कृपालुत्व दर्शित किया। वे तो प्रातःस्मरणीय हैं, यह केवल उनका

कार्पण्य है। उनके द्वादश नामोंके मन्त्रमें भी यही कहा है, यथा—'ॐ हनुमान् अञ्जनीसूनुर्वायुपुत्रो महाबलः। रामेष्टः फाल्गुनसखः पिङ्गाक्षोऽमितविक्रमः। उदधिक्रमणश्चैव सीताशोकविनाशनः॥ लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा। द्वादशैतानि नामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः॥ स्वापकाले प्रबोधे च यात्राकाले च यः पठेत्। तस्य सर्वं भयं नास्ति रणे च विजयी भवेत्॥' पुनः प्रातःस्मरणीय महात्माओंमें इनकी गणना पायी जाती है। यथा—'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥ सप्तैतान्संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम्। जीवेद्वर्षशतं साग्रमपमृत्युविनश्यति॥ (१-२)—अर्थ सरल है।

नोट—२—श्रीहनुमान्‌जीका उत्तरोत्तर अपनी हीनता वर्णन करनेमें 'सार अलङ्कार' है।

लमगोड़ाजी—नाटकीय कलाके ज्ञानके अभावमें, कि जिसमें देश, काल और पात्रका विचार आवश्यक है, *'प्रात लेइ जो नाम हमारा।''''* यह पद भी *'चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी'* की तरह बहुधा अनुचित प्रकारसे ही उपयुक्त होता है। बहुत-से लोग हनुमान्‌जीका परम माङ्गलिक नाम इसीको प्रमाण मानकर प्रातःकाल नहीं लेते।

दो०—अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥ ७॥

अर्थ—हे सखे! सुनो, मैं ऐसा अधम हूँ (तो भी) रघुवीर श्रीरामजीने मुझपर तो कृपा ही की है। वक्ता लोग कहते हैं कि प्रभुका (अधमोद्धारण कृपालुता) गुण स्मरण कर (उनके) दोनों नेत्रोंमे जल भर आया॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व जब विभीषणजीसे रामकथा कही थी, तब वहाँ *'सुमिरि गुनग्राम'* पद दिया था, यथा—*'तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम। सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम॥'* और यहाँ *'सुमिरि गुन'* कहा। कारण कि अपनेको अधम कहकर प्रभुके अधमोद्धारण गुणका यहाँ स्मरण किया है। यह एक गुण है। इससे यहाँ एकवचन पद दिया और वहाँ रामकथा कही, कथामें बहुत-से गुणोंका स्मरण हुआ; इससे वहाँ *'गुनग्राम'* पद दिया। (ख) विभीषणजीने अपनी अधमता कहकर रामकृपा होनेमें पहले सन्देह किया, हनुमान्‌जीके दर्शनसे वह सन्देह दूर हुआ तब उनको भरोसा हुआ। हनुमान्‌जीने अपनेसे अधमपर कृपा होना कहकर विभीषणपर कृपा करना पुष्ट किया। (ग) *'मोहू पर'* कहकर उनकी परम कुलीनता, महाभागवत होना और मङ्गलके लिये स्मरण किया जाना जनाते हुए अपनेको इनसे रहित सूचित किया। अर्थात् आप सब तरह योग्य हैं; पुनः आपमें प्रेम भी है—*'मगन सुमिरि गुनग्राम-'*—और मैं सब प्रकार अयोग्य हूँ।—[*'मोहू पर'* अर्थात् जब मुझपर कृपा की तब जो धर्मादि-साधन-सम्पन्न हैं और फिर आप जो परमभागवत हैं उनकी कथा ही क्या? वे तो परमकृपापात्र हैं ही। (प्र०)]

नोट—१ (क) यहाँ सखा-पदसे सम्बोधन करनेका यह भाव है कि हम दोनोंका समान ही तमोगुणी स्वभाव है।—पुनः दूसरी समानता यह है कि जैसे आप बली रावणके पाले पड़े हैं वैसे ही मैं बली वालीके पाले पड़ा था और तीसरी समानता यह है कि जिन रघुवीरजीके वीरत्वसे मेरा भला हुआ उन्हींके वीरत्वसे आपका भी भला होगा। (पाँ०) (ख) *'कीन्ही कृपा'*, यथा—*'तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥ सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* ,*'परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥''''हनुमत जनम सुफल करि माना।'*—इसका स्मरण किया। यही कृपागुण है। (ग) यह दोहा दोहरा है।

टिप्पणी—२ पूर्व दोहेमें प्रेमकी दो दशाएँ कहीं—पुलक तन, मगन मन। एक दशा 'नेत्रोंमें जल भर आना' बाकी था; उसकी पूर्ति यहाँ की।

जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥ १॥
एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥ २॥

अर्थ—जान-बूझकर भी जो ऐसे स्वामी श्रीरघुनाथजीको भुलाकर (दुःखरूप विषयोंकी ओर) भटकते फिरते हैं, वे क्यों न दुःखी हों अर्थात् उन्हें दुःखी होना ही चाहिये॥ १॥ इस प्रकार श्रीरामजीके गुणग्राम कहते हुए (दोनों महात्माओंने) अकथनीय विश्राम (शान्ति-सुख) पाया॥ २॥

नोट—१ जैसे यहाँ विभीषणजीके प्रसङ्गमें वक्ताओंकी उक्ति है—*'जानतहूँ अस स्वामि बिसारी'''''।'*, ठीक उसी प्रकारकी उक्ति वालिवधके पश्चात् सुग्रीवजीके प्रसङ्गमें वक्ताओंकी है, यथा—*'जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं॥'* (४। १४)

मा० त० सु०—यहाँ *'अस'* पद अंगुल्यानिर्देश है। इस पदसे निश्चय कराते हैं कि ऐसे स्वामी ये ही हैं, दूसरा नहीं। यथा—*'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'*, *'अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही। मोसे सठ पर ममता जाही॥'*

टिप्पणी—१ (क) **'जानतहूँ'**=(स्वभाव) जानकर भी। भाव यह कि जाननेसे स्मरण होता है; स्मरणसे दुःख नष्ट होता है। जानना मुख्य है; यथा—*'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥'* (७। ८९) जाननेपर कि ऐसे अधमोद्धारण अहैतुकी कृपालु हैं भुलाया। अर्थात् दुःखके नाशका योग लगा, पर दुःखका नाश उन्होंने न किया (यह उन्हींकी भूल है)। *'जानतहूँ'* अर्थात् शास्त्र-पुराण-आचार्य आदिसे सुनकर, जानकर। यथा—*'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषयबिष माँगी।'* *'काहे न होहिं दुखारी'* से जनाया कि अन्य किसी भी साधनसे दुःख दूर नहीं हो सकता। यथा—*'तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी।'* (७। १२४) *'रघुनाथ बिना दुख कौन हरै'* (कवि०) (ख) *'काहे न होहिं दुखारी'*; यथा—*'महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि'* (आ० ३६); *'बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादरके फल ये॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते॥ अति दीन मलीन दुखी नितहीं।'* (उ० १४)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—विभीषणजीने कहा था कि *'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्ह महुँ जीभ बिचारी॥'* इसपर श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि जो तुमने कहा उसका कारण जान-बूझकर प्रभुका विस्मरण है; आप ऐसे मालिकको जानकर भी भूले हुए हैं, अतः दुःखी न होनेका कोई कारण नहीं है। *'मन क्रम बचन चरन रति होई। सपनेहुँ संकट परै कि सोई॥'*, *'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिअ बिपति कि ताही॥'* (३२। २) तुमने मन और वचनसे चाहे जो किया हो, पर क्रियारूपसे तो तुम राक्षसकी ही सेवा करते रहे। आप जानते हैं कि सीताहरण हो गया, सरकार ढूँढ़ते हुए वनोंमें घूम रहे हैं। आपने सीताहरण-प्रकरणमें सरकारकी कौन सेवा की? उन्हें विस्मरण किये ही बैठे हो। इसी उपदेशने विभीषणजीके लिये मन्त्रका काम किया, इससे उन्हें अनिर्वाच्य विश्राम हुआ। तबसे उन्होंने क्रियारूपसे सेवा आरम्भ की। आप-से-आप बिना पूछे सीताजीका समाचार सुनाने लगे (उन्हींकी युक्ति बतलानेसे हनुमान्‌जीने श्रीसीताजीका दर्शन पाया), स्वयं रावणसे श्रीजानकी-प्रदानके लिये उलझ पड़े और अन्तमें सब कुछ त्यागकर भगवान्‌के चरणोंमें चले गये—(इस टिप्पणीके अनुसार ये वचन हनुमान्‌जीके हुए, न कि वक्ताओंके)।

टिप्पणी—२ (क) *'एहि बिधि कहत'''''* इति। रामगुणग्राम कहने, सुनने, समझनेमें (अर्थात् सभी प्रकार) सुखदायक है, यथा—*'कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसीके॥'* कहने, सुनने, समझने और सुमिरनेमें सुखद होनेके उदाहरण, यथा—*'एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा।'''''* *'सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम'* और *'अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे'''''।'* (ख) अनिर्वाच्य जो वचनसे परे है, भिन्न है। यथा—*'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।'* (७। ५) *'सो सुख जानै मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥'* (७। ८८) भाव यह है कि रामगुणग्राम कहा जा सकता है, पर जो उससे सुख हुआ वह नहीं कहा जा सकता। इसीसे गुण कहे और सुखको अनिर्वाच्य कहा। [पूर्व कह आये

हैं कि *'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'* सत्सङ्गका महत्त्व कहा पर उसका स्वरूप नहीं दिखाया था, वही यहाँ दिखाते हैं कि *'पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा।'* विश्राम पद यहाँ सुखवाचक है, यथा—*'कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।'* *'पावा'* का भाव कि यह सुख ऐसी पुरीमें मिलना दुर्लभ था सो अकस्मात् पा गये। (मा० त० सु०)] (ग) शङ्का—कहने, सुनने आदिसे विश्राम मिलता है। यहाँ *'एहि बिधि कहत'* पद दिया, *'सुनत'* न कहा, यद्यपि दोनोंने सुननेको कहा, यह क्यों? समाधान—दोनोंने अपनी-अपनी अधमता एक-दूसरेसे कही; इसे सुनकर किसीको सुख न हुआ। परन्तु जब दोनोंने अपने-अपने ऊपर रघुवीरकी अनुग्रह कही, तब विश्राम पाया। इसीसे *'सुनत बिश्राम पावा'* न कहा, *'कहत बिश्राम पावा'* कहा। (घ)—हनुमान्‌जीकी इच्छा विश्राम करनेकी न थी—*'रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ बिश्राम।'* पर रामकथा अपना प्रभाव नहीं छोड़ती, वह विश्राम देती ही है; अतः इनको विश्राम मिला। (मा० शं० का मत है कि बिना रामकार्यके किये विश्राम न करनेकी प्रतिज्ञा थी। यहाँ मुख्य कार्य समुद्र पार करना था, क्योंकि सम्पातीने कहा था कि *'जो नाँघइ सत जोजन सागर। करै सो राम काज मति आगर॥'* अतएव समुद्र पार करनेपर विश्राम पद दिया।)

नोट—*'जानतहूँ'''*' पायकुलक है, *'फिरहिं ते'* तामरस है और *'एहि बिधि'''*' विश्राम पायकुलक है। (ब्र० चं०) *'पुनि सब कथा'''।'* चौपाईका ३०९ वाँ भेद है और *'जेहि बिधि'''*' ३२२ वाँ भेद है।

पुनि* सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥ ३॥

अर्थ—फिर विभीषणजीने सब कथा कही, जिस प्रकार वहाँ श्रीजानकीजी रहती थीं (एवं जिस प्रकार दिन व्यतीत करती थीं)॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) जब हनुमान्‌जीने सब रामकथा कही तब अपना लङ्कामें रात्रिको प्रवेश करना और घर-घर श्रीसीताजीको ढूँढ़ना और उनका न मिलना भी कहा। इसीलिये विभीषणजीने सब वृत्तान्त इनसे बताया। जब श्रीजानकीजी लङ्कामें आयीं तबसे आजतकका सारा समाचार कह सुनाया। (ख) *'जेहि बिधि'''रही'* अर्थात् जिस प्रकार रावणने उनको रखा, यथा—*'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ। तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ॥'* (३। २९) इसीसे *'तहँ रही'* अर्थात् अशोकवाटिकामें रहीं। अन्यत्र न रहीं, इसीसे अन्यत्र न मिलीं। पुनः, *'जेहि बिधि'* अर्थात् जिस प्रकार ये दिन काटती थीं वह कहा, यथा—*'जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥'*—(आ० २९) (ग) *'जनकसुता'* का भाव कि जैसे राजाओंकी कन्याएँ रहती हैं, उस रीति-भाँति-कायदेसे ये वहाँ रहती हैं, अनेक राक्षसियाँ रक्षा करती हैं, वहाँ पुरुष नहीं जाते।

नोट—१ अनिर्वाच्य विश्राम छोड़कर कथा कहने लगे जैसे शिवजीने किया था, यथा—*'मगन ध्यानरस दंडजुग पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुबर चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह॥'* वहाँ श्रोता सामने बैठा है उसको कथा सुनाना, उसके प्रश्नोंका उत्तर देना आवश्यक है; अतः ध्यान छोड़ा। वैसे ही यहाँ हनुमान्‌जीको आवश्यक कार्य करना है, अतः उनको समाचार बतानेके लिये विश्रामसे मनको उपराम दिया।

नोट—२ यहाँ *'जनकसुता'* साभिप्राय विशेषण है। भाव यह कि जैसे जनकजी ब्रह्मसृष्टिमें रहकर भी सब प्रकारसे निर्लेप रहे, वैसे ही ये भी लङ्कामें निर्लेप रहीं, यथा—*'जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जलजाये।'* सीताजी अपनी चित्तवृत्तिको रोककर योगारूढ़ किये रहा करती थीं, यथा—*'निजपद नयन दिये मन'।* यह भूचरी मुद्रा और नाटक भी कहा जा सकता है। चित्तवृत्तिको एकाग्र करनेकी क्रिया ही 'योग' है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** (मा० त० सु०) पुनः, भाव कि जैसे वे जनकमहाराजके यहाँ

* पुनि—छ०, भा० दा०, १७०४, कोदवराम। सुनि—१७२१, १७६२। भा० दा० की पोथीमें 'पुनि' पर हरताल देकर 'सुनि' बनाया है।

रहती थीं अथवा जैसे अपने 'जनक' (पिता) के घर पुत्री रहती है वैसे ही यहाँ रखी गयी हैं—यह दिखानेको **'जनकसुता'** नाम दिया गया। (पाँ०)

प० प० प्र०—**'जनकसुता'** शब्दके भाव *'तेहि खल जनकसुता हरि लीन्हीं'* (३। ३१। २) में देखिये। यहाँ भाव यह है कि श्रीजनक-समान महाराजकी कन्याकी भी ऐसी दुर्दशा! यह कैसा दैव-दुर्विपाक है। यह आश्चर्य, खेद, विषाद और शोकका निदर्शन है। इस भावकी पुष्टिके लिये ही इस अर्धालीके दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा न्यून रखी गयी है। जो मर्म न समझनेसे दोष गिना जाता है। इससे यह सूचित किया कि जनकसुताकी कथा कहते-कहते विभीषणजीकी वाणीमें गति-विच्छेद होने लगा, कण्ठ अवरुद्ध हो गया। दूसरा भाव यह है कि श्रीजनकमहाराजकी कन्याको पतिवियोगमें जिस तरह रहना उचित है, उसी तरह वे यहाँ रह रही हैं।

टिप्पणी—२ ग्रन्थकारने इस प्रसङ्गमें दोनों भक्तोंमें समानता दिखायी है—

श्रीहनुमान्‌जी	श्रीविभीषणजी
विप्ररूप धरि बचन सुनाये	*१ राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा*
हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा	*२ की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई*
एहि सन हठि करिहौं पहिचानी	*३ तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा*
तब हनुमंत कही सब रामकथा	*४ पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि····।*

५ सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुनग्राम।

☞ दोनोंने अपने दोष और भगवद्‌गुण कहे—

'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि····।	*६ 'तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न····'*
'अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा····'	*७ 'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा'*
'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहौं जानकी माता॥'	*८ 'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥' 'देखिहौं जाइ चरन जलजाता।'*

☞ दोनोंको श्रीरामकृपाका ही अवलम्ब है—

'मोहू पर रघुबीर कीन्ही कृपा'	*९ 'अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥'*

☞ श्रीहनुमान्‌जीने विभीषणजीको श्रीरामजीसे मिलया और विभीषणजीने हनुमान्‌जीको श्रीजानकीजीसे मिलाया। *'सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥'* (१०) *'जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ'' ॥'*

टिप्पणी—३ सीताजीकी खबर मिलते ही हनुमान्‌जीने कहा—हे भाई। मैं देखना चाहता हूँ और युक्ति सुनते ही बिदा होकर श्रीसीताजीके पास जा पहुँचे—यह शीघ्रता ग्रन्थकार आगे अपनी चौपाईमें दरसाते हैं।

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी* चहौं जानकी माता॥ ४॥
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥ ५॥

अर्थ—तब हनुमान्‌जीने कहा—हे भाई! सुनो, मैं श्रीजानकी माताको देखना चाहता हूँ॥ ४॥ विभीषणजीने श्रीसीतादर्शनकी सब युक्ति (कह) सुनायी। (सुनते ही) पवनसुत हनुमान्‌जी बिदा माँगकर चल दिये॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता'* इति।—*'भ्राता'* शब्द यहाँ निहोरा या प्रार्थनाका भाव दे रहा है। यथा—*'भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि।'* (अ० १९१), *'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥'* (सुं० १) (ख) *'देखी चहौं जानकी माता'* इति। कदाचित् विभीषणजी कहें कि वहाँ कोई पुरुष नहीं जा सकता, इससे प्रथम ही *'माता'* विशेषण दे दिया

* १—देखा—(ना० प्र०, का०, ब्र० चं०)। देखी—भा० दा० १७२१ और १७६२ तथा छक्कनलालजीकी प्रतियोंमें। २—'तब हनुमंत······भ्राता' तामरस है। शेष सब पादाकुलक है। (ब्र० चं०)

कि मैं उनके पास माताभावसे जाता हूँ, माताभावसे दोष नहीं और पुत्रको वहाँ रोक नहीं; यथा—*'देखहु कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गुसाईं॥'* (लं० १०७) [प० प० प्र० स्वामीका मत है कि विभीषणजीको राजद्रोह अथवा बन्धुद्रोह दोष न लगे, मुख्यत: इसीलिये श्रीहनुमान्‌जीके मुखसे *'जानकी माता'* ये शब्द कहलाये गये।]

नोट—१ *'देखी चहौं'* से दर्शनके लिये अपनी अत्यन्त आतुरता प्रकट करते हैं। इसमें उत्सुकता संचारी भाव है। पुन:, इससे उनका दृढ़ विश्वास और संकल्प भी सूचित होता है कि माता जानकीजी चाहे जैसे विकट स्थानमें हों मैं अवश्य उनके दर्शन करूँगा।

नोट—२—दीपककारका मत है कि श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी दोनों ही रामकार्यमें लीन हैं। विभीषणजी सोचते हैं कि ये रामदूत हैं, फँस गये तो मार डाले जायँगे जिससे रामकार्यमें बाधा होगी, इससे वे कहते हैं कि आप लौट जाइये; और इधर हनुमान्‌जी भी दृढ़ हैं, इनको विश्वास है कि जबतक मैं दर्शन न करूँगा और मुद्रिका न दूँगा तबतक रामकार्य हो नहीं सकता। हनुमान्‌जी बड़े गम्भीर हैं, इससे इनकी बातका आशय लिखनेमें नहीं आता। इनकी निर्भयता और दृढ़ संकल्प देख विभीषणजीने युक्ति बतायी।

नोट—३ (क) हनुमान्‌जी एवं विभीषणजी जानते हैं कि ये जगज्जननी हैं, अतएव ये उनको माता कहते हैं। इनका यही भाव मानसमें दिखाया गया है। यथा—*'रामदूत मैं मातु जानकी', 'यह मुद्रिका मातु मैं आनी', 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा'* इत्यादि। और श्रीजानकीजी भी इन्हें पुत्र-सा ही मानती हैं, यथा—*'सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी', 'सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत',* इत्यादि (ख)—अनिर्वाच्य विश्राम छोड़कर सीताजीको देखनेके लिये उत्सुक हुए। कारण कि *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'* प्रभुकी सेवा अपने सुखसे बढ़कर है। इसीसे हनुमान्‌जी सदैव*'रामकाज करिबेको आतुर'* रहते हैं।

टिप्पणी—२ *'जुगुति बिभीषन·····'* इति। (क) जब देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब विभीषणजीने देखनेकी युक्ति बतायी; क्योंकि बिना युक्तिके वहाँ कोई जा नहीं सकता था। सब युक्ति यह कि वहाँ बाहर राक्षस पहरा देते हैं और भीतर उनके निकट राक्षसियाँ रक्षा करती हैं, इससे वह मार्ग और उपाय बताये जिसमें कोई मिले नहीं। [पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि अशोक उपवन प्रमदा वन था। ऐसी युक्तिसे बना था कि सम्पूर्ण लङ्का छान आवे, और उसका पता न लगे। ऐसी रचनाको आजकलकी भाषामें तिलस्म कहते हैं। उसे तोड़कर यदि बलपूर्वक सीताजीका दर्शन करना चाहे तो रावणके जीते-जी सम्भव नहीं था। अत: उस तिलस्मके भीतर प्रवेश करनेकी युक्ति विभीषणजीने हनुमान्‌जीको बतलायी, जिसमें बिना बाधाके सीताजीका दर्शन हो सके। आगेके *'जहवाँ'* और *'तहवाँ'* पदसे भी यही सूचित होता है कि उपवन उस स्थानसे जहाँ रावण और विभीषणका घर है, कुछ दूरीपर था। (वि० त्रि०) युक्ति गुप्त रखी, क्योंकि *'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहि जब करिअ दुराऊ॥'* (१। १६८। ४) मानसमें सातों काण्डोंमें युक्तिका उल्लेख है। यथा—*'जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई'* (बाल०), *'एकउ जुगुति न मन ठहरानी'* (अ०), *'इहाँ राम जसि जुगुति बनाई'* (आ० २३। ८), इत्यादि। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ *'चलेउ पवनसुत·····'* इति। (क) अति शीघ्रता सूचित करनेके लिये *'पवनसुत'* शब्द दिया। (ख)*'बिदा कराई'*—प्रेमीसे और बड़ेसे आज्ञा लेकर चलना चाहिये; यह नीति है, यथा—*'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले·····', 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥'* (१। ४८; ३। ३)।—[*'बिदा कराई'* से सूचित किया कि विभीषणजी प्रेमाधिक्यके कारण हनुमान्‌जीको विश्रामके लिये ठहराना चाहते थे पर वे ठहरे नहीं।—*'रामकाज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ बिश्राम।'* यह उनका सिद्धान्त है। (वि० त्रि०)]

नोट—४ बिदा माँगकर जाना सनातन शिष्टाचार है; जानेके लिये आज्ञा माँगनेकी रीति हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभीमें पायी जाती है। यह प्रीतिकी रीति है। प्रीतिका एक अङ्ग प्रणय है ही। आज्ञा लेनेसे उसका आदर-सम्मान प्रकट होता है। इस ग्रन्थमें इसका चरितार्थ है; यथा—*'करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयउ राउ गृह बिदा कराई॥'* (१। २१७) पाँड़ेजीका मत है कि *'बिदा कराई'* का भाव यह कि बलात् बिदा

हुए, अब किंचित् भी रुकना स्वीकार न किया। पुनः यह भी भाव कहा जाता है कि मेरे पुनः लौटकर आनेकी अपेक्षा न कीजियेगा। सन्त-सङ्ग छोड़नेकी रुचि न होनेपर भी रामकार्यके लिये जबरदस्ती बिदा हुए, अतः *'कराई'* कहा।

नोट—५ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजीके प्रसङ्गके वचनोंकी समता दस प्रकारसे गिनाते हैं—*'सुमिरन दर्शन हठ कथा जानब पुलक बखान। कृपा दोष गुन।'*

	श्रीहनुमान्‌जी	श्रीविभीषणजी
स्मरण	*'रामायुध अंकित गृह देखि'* तर्क वितर्करूपी स्मरण-चिन्तन	*'राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा'*
दर्शन	*'निज नाम'* कहकर विप्ररूप छोड़ स्वरूपसे प्रकट हुए, यही दर्शन है।	*'सुनत बिभीषन उठि तहँ आये।'* *'आयहु मोहि करन बड़भागी।'*
हठ	*'एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी'*	*'तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा।'*
कथा	*'तब हनुमंत कही सब रामकथा'*	*'पुनि सब कथा बिभीषन कही।'*
जानना	*'जानतहूँ अस स्वामि बिसारी'*	*'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा।'*
पुलक	*'सुनत जुगल तन पुलक'*	*'सुनत····पुलक'*
बखान	*'सुनहु बिभीषन·····'*	*'की तुम्ह राम दीन अनुरागी'*
कृपा	*'करहिं सदा सेवक पर प्रीती'*	*'करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा।'*
दोष	*'कपि चंचल सबही बिधि हीना'*	*'तामस तन कछु साधन नाहीं'*
गुन	*'एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा'*	*'·····कहत रामगुनग्रामा', 'सब कथा·····कही।'*

—उपर्युक्त *'बखान'* में कथित *'सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती'* इस उपदेशका उपसंहार *'श्रवन सुजस सुनि आयउँ'* में होगा। (मा० त० सु०)

टिप्पणी—४ श्रीहनुमान्‌जीने समस्त लङ्का खोज डाली पर श्रीजानकीजी न मिलीं, जब विभीषणजीने युक्ति बतायी तब मिलीं। इसी प्रकार बिना मर्मीके युक्ति बताये ईश्वर नहीं मिलते—यह ग्रन्थकारका उपदेश है। यथा—*'भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥'*

करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥ ६॥

अर्थ—फिर वही (मशक-समान) रूप धारण करके अशोकवनमें जहाँ श्रीसीताजी रहती थीं वहाँ गये (बीचमें विभीषणजीसे मिलनेके लिये विप्ररूप कर लिया था। अब पुनः पूर्व सूक्ष्मरूप धर लिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'तहवाँ'*। विभीषणजीके वचनमें यह न खुला कि श्रीजानकीजी कहाँ हैं—*'जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही।'* *'तहँ'* को यहाँ खोला कि अशोक-वनमें जहाँपर वे थीं। वन बहुत बड़ा है, उसमें जहाँ वृक्षके नीचे वे बैठी थीं उसके समीपके वृक्षपर गये। इतने समीप गये कि जहाँसे उनका कृश शरीर और शीशपर जटाकी एक वेणी रात्रिमें उन्हें देख पड़ी। कुछ रोशनी थी या नहीं, इसका पता नहीं।

टिप्पणी २—'पूर्व पर्वतपरसे लङ्कापुरीको जब हनुमान्‌जीने देखा था तब वहाँ *'बन बाग उपवन बाटिका·····'* सबको पृथक्-पृथक् कहा। पर जहाँ श्रीजानकीजी हैं, वहाँ वन, बाग, उपवन, वाटिका चारों हैं—ऐसा विलक्षण यह बाग है। चारोंके प्रमाण, यथा—*'तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोचरत अहई॥'* *'बन असोक सीता रह जहवाँ।'* *'चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा। फल खायउ·····।'* और *'नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोक बाटिका उजारी॥'*

टिप्पणी—३—रावणको शयन करते देखा था और श्रीसीताजीको अशोकवृक्षके तले बैठे देखा। भाव कि रावणकी मृत्यु होगी और श्रीसीताजी शोकरहित होंगी।

देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहिं बीति जात निसि जामा॥ ७॥

अर्थ—श्रीसीताजीको देखकर श्रीहनुमान्‌जीने उन्हें मनहीमें प्रणाम किया। (देखा कि उनको) रात्रिके चारों प्रहर (अर्थात् सारी रात) बैठे ही बीत जाते हैं। अर्थात् रात सोनेका समय है पर इन्हें शोचमें बैठे ही कटती है॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'देखि मनहिं महुँ……'* इति। भाव कि अभी प्रकट होकर प्रणाम करनेका अवसर न था। यदि शरीरसे या वचनसे प्रणाम करते तो सब जान जाते। वहाँ राक्षसियाँ बहुत हैं; कोई जान न पावे, इससे मानसिक प्रणाम किया। (ख)—*'निसि जामा'*—रातमें कोई तीन, कोई साढ़े तीन, कोई चार प्रहर मानते हैं, अतः झगड़ेकी बात उठाकर केवल *'निसि जामा'* कहा, अर्थात् जितने भी पहर हों सभी। (इस प्रसङ्गमें विप्रलम्भ अर्थात् वियोग शृङ्गारका वर्णन है।)

नोट—१ अग्निवेश रामायणमें श्रीहनुमान्‌जीका द्वादशीको सायंकाल समय लङ्कापुरीमें पहुँचना और सूक्ष्म अदृश्य रूपसे रात्रिमें लङ्कापुरीको देखना तथा पिछले अर्थात् चौथे प्रहरमें श्रीजानकीजीका दर्शन पाना वर्णित है। यथा—**'सन्ध्यायां हरिवासरे हरिसुतो हत्वान्तरायान् पथि।'''कृत्वा सूक्ष्ममदृश्यरूपमसुरैरालोक्य रात्रौ पुरीम्। पाश्चात्त्ये प्रहरे ददर्श हनुमान् तस्मिन्वने जानकीम्।'**

नोट—२—बाबा हरिदासजी 'बीति गई' पाठ देते हैं और *'निसि जाम'* (निसि याम) का अर्थ 'तीन पहर रात' करते हैं, यथा—*नक्त निशा रजनी क्षपा क्षणदा रैन त्रियाम। तमी शर्बरी रातिको यामिनि सारंग नाम॥'* भाव कि *'त्रियामा'* रात्रिका एक नाम है। ☞ रात्रिको बैठे-ही-बैठे बिता देना, भर रात बैठे ही रह जाना यह विरहका देश और दशा भी है। श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं 'आज' भी कोई पतिव्रता स्त्री यदि पराये वशमें पड़ जाती है तो रातको नहीं सोती, सारी रात जागते बैठी रहेगी, दिनमें चाहे सो ले।

नोट—३—वाल्मीकीयके मतानुसार कुछ रात बाकी रह गयी थी जब इनको श्रीसीताजीका दर्शन हुआ; यथा—**'किञ्चिच्छेषा निशाभवत्।'** (सु० १८। १) उसी समय चन्द्रमाका उदय हुआ था जिससे वे उनको देख सके थे।

कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥ ८॥

अर्थ—शरीर दुबला हो गया है। सिरपर जटाओंकी एक 'वेणी' (जूड़ा, लट) हो गयी है। (वे) हृदयमें श्रीरघुनाथजीके गुणसमूहको (स्मरण करती हुई श्रीरामनाम) जप करती रहती हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१—*'कृस तनु सीस जटा'* से ज्ञात है कि अच्छी तरह ओढ़नेभरको वस्त्र भी नहीं है (अथवा विरहकी दशामें वस्त्रका सँभार नहीं है, वस्त्र ठीकसे ओढ़े नहीं हैं। अथवा, शरीरका अत्यन्त कृश हो जाना तो केवल मुखारविन्दके दर्शनसे जान गये, शरीर और सिर खुला हुआ है। [गीतावली और रामचन्द्रिकामें इस प्रसङ्गका वर्णन भली प्रकार किया गया है। यथा—*'देखी जानकी जब जाइ। परम धीर समीरसुतके प्रेम उर न समाइ॥ कृस सरीर सुभाय सोभित, लगी उड़ि उड़ि धूलि। मनहु मनसिज मोहनी-मनि गयो भोरे भूलि॥ रटति निसिबासर निरंतर राम राजिवनैन। जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बैन॥'* (गी० ५। २। १—३) बरवै रामायणमें श्रीजानकीजीने अपने कृश शरीरके सम्बन्धमें श्रीहनुमान्‌जीसे स्वयं कहा है—*'अब जीवन कइ हे कपि आस न कोइ। कनगुरिया कइ मुँदरी कँगना होइ॥'* (३८) अर्थात् कनिष्ठ अँगुलीकी अँगूठी अब इतनी ढीली हो गयी कि कलाईके कङ्कनका काम दे रही है। *'कृस तनु'* से जनाया कि वे शोकान्वित, चिन्तित और उदास रहा करती थीं तथा भोजन भी न करती थीं; यथा—**'अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च। शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम्॥'** (वाल्मी० ५। १५। २३), **'उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः'** (वाल्मी ५। १५। १९) तथा च **'शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम्। दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम्॥'** (वाल्मी० ५। १९। ८) अर्थात् ध्यान और शोकपरायण होनेसे शरीर सूख गया था। दुःखका पार न मिलता था। वे केवल श्रीरामजीका ध्यान लगाये हुए थीं। पुनश्च—**'उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च। परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां तपोधनाम्॥'** (वाल्मी० ५। १९। २०)]

टिप्पणी—२—*'सीस जटा एक बेनी'* [स्त्रियोंमें सिरके केशोंकी प्रायः तीन चोटियाँ बनाकर गुही जानेकी